भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प—९५

अध्यात्म-प्रेमी पण्डित कविवर श्री दौलतरामजी कृत

छहढाला

[सटीक]

(गुजराती अनुवादका हिन्दी अनुवाद)

: अनुवादक :

श्री मगनलाल जैन

: प्रकाशक :

श्री दि० जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति प्रतियाँ :	११५००	वीर सं.	२४९१
द्वितीयावृत्ति प्रतियाँ :	२२००	,,	२४९२
तृतीयावृत्ति प्रतियाँ :	३१००	,,	२४९३
चतुर्थावृत्ति प्रतियाँ :	२२००	,,	२४९५
पंचमावृत्ति प्रतियाँ :	२२००	,,	२४९६
षष्टमावृत्ति प्रतियाँ :	३३००	,,	२४९८
सप्तमावृत्ति प्रतियाँ :	४४००	,,	२४९९
अष्टमावृत्ति प्रतियाँ :	५१००	,,	२५०१
नवमावृत्ति प्रतियाँ :	५१००	,,	२५०३

मूल्य :

१–५०

: मुद्रक :

मगनलाल जैन

अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशकीय निवेदन

[प्रथम आवृत्ति]

अध्यात्मप्रेमी कविवर पं० दौलतरामजी कृत छहढालाका यह अर्थ गुजरातीमें स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढके भूतपूर्व प्रमुख श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशीने सम्पादित किया था। हिन्दीमें तो इस पुस्तककी अनेक आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं। इस आवृत्तिमें प्रकरणके अनुसार भावपूर्ण तथा बालसुबोध चित्र अंकित किये गये हैं, यह इसकी विशेषता—नवीनता है। इससे पाठकोंका अभ्यासमें मन लगेगा और समझनेमें सुगमता होगी।

सोनगढमें प्रतिवर्ष शिक्षणवर्गमें और अनेक जैन पाठशालाओंमें यह पुस्तक पढ़ाई जाती है और इसकी सामूहिक स्वाध्याय भी कई जगह होती है। श्रीमान् नवनीतलालभाई जवेरी (बम्बई) जो श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढके प्रमुख हैं, उन्हें इस पुस्तकके प्रचारका व बाल-साहित्यका प्रेम है। इसलिये दक्षिण-यात्राके समय वलसाड, भिवंडी, बेलगांव, जलगांव और दाहोद स्थित अमलगमेटेड इलेक्ट्रिक कं० के पावर-हाउसोंमें जब आत्मज्ञ संत पू० श्री कानजीस्वामीका पदार्पण हुआ था तब उसके हर्षोपलक्षमें उन्होंने ज्ञानप्रचारार्थ जिस बड़ी रकमके दानकी घोषणा की

थी उसमेंसे जैन बालपोथी हिन्दीकी १०००० प्रतियां "जैनमित्र" तथा "सन्मतिसंदेश"के ग्राहकोंको तथा बालपोथी (मराठी) २००० प्रतियां और छहढाला (मराठी) ३००० सचित्र प्रतियाँ महाराष्ट्रके "सन्मति" मासिकके ग्राहकोंको तथा अन्य संस्थाओंको भेंट दी जा चुकी है। अब इस सचित्र हिन्दी छहढालाकी भी १०००० प्रतियां "जैनमित्र" और "सन्मतिसंदेश"के ग्राहकोंको भेंट दी जा रही है। साहित्य-प्रचारकी उदारभावनासे प्रेरित होकर माननीय श्री नवनीतलाल-भाई जवेरी धर्मप्रचारके निमित्त जो ठोस कार्य कर रहे हैं वह अतीव सराहनीय है और इसलिये संस्था आपका हार्दिक अभिनन्दनके साथ आभार मानती है।

इस आवृत्तिके प्रकाशनमें श्री शाह हिंमतलाल छोटालाल, डॉ. विद्याचन्दजी शाहा, श्री मनसुखलाल देसाई, ब्र. हरिलाल जैन तथा श्री कान्तिलाल हरिलाल शाहने प्रेमपूर्वक सहायता की है, अतः संस्था उन सब महानुभावोंका आभार मानती है।

सोनगढ
वीर सं० २४९१

साहित्य-प्रकाशन समिति
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रकाशकीय निवेदन

[नववीं आवृत्ति]

छहढाला पढ़नेमें समाजकी अत्यधिक रुचि रही है। बहुत मांग होनेके कारण यह नववीं सचित्र आवृत्ति प्रकाशित की गई है। इस पुस्तकमें सब कथन जिनागम-अनुकूल हैं। उनमें जिनमतसे विरुद्ध अन्य मतके एकांत अभिप्रायोंका निषेध किया गया है। ज्ञानीजन विवेक द्वारा हेय-उपादेय तत्त्वको बराबर समझ लें।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित तत्त्वकी स्पष्टता करना सच्ची धर्म-प्रभावना है। हमारी भावना है कि सब धर्म जिज्ञासु इस ग्रन्थका स्वाध्याय करके उसका आशय समझकर मिथ्यात्वसे अपनी रक्षा करते हुए स्वसन्मुखता द्वारा सम्यक्पना प्राप्त करें।

वैशाख शुक्ला २
वीर सं० २५०३

साहित्य-प्रकाशन समिति
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

मूल ग्रन्थकर्त्ताका कुछ परिचय

श्री पं० दौलतरामजी अलीगढके समीप सासनीके रहनेवाले थे, फिर अलीगढमें रहने लगे। वे पल्लीवाल जातिके नररत्न थे। धर्मतत्त्वके अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने परमार्थ जकड़ी, फुटकर अनेक पद तथा प्रस्तुत ग्रंथ छहढालाकी रचना की है। अपनी कवितामें सरल शब्दों द्वारा सागरको गागरमें भरनेका प्रयत्न किया है। उनके शब्द रुचिर हैं, भाव उल्लास देनेवाला है। उनके पदोंका भाव मनन करने योग्य है, जो कि जैन-सिद्धान्तके जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपयोगी है।

इस ग्रंथका निर्माण विक्रम सं० १८९१ में हुआ है, इसकी उपयोगिताका अनुभव करके इसको प्रायः सभी जैन पाठशालाओं और जैन परीक्षालयोंके पठन-क्रममें स्थान दिया गया है। सर्व सज्जनोंसे मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रंथका सर्वत्र प्रचार करें और आत्महितमें अग्रसर होनेके प्रयत्नमें सावधान रहें।

निवेदक—

नवनीतलाल सी. जवेरी

भूमिका

कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत "छहढाला" जैन समाजमें भलीभाँति प्रचलित है। अनेक भाई-बहिन उसका नित्य पाठ करते हैं। जैन पाठशालाओंकी यह एक पाठ्य पुस्तक है। ग्रन्थकारने संवत् १८९१ की वैशाख शुक्ला ३, (अक्षय-तृतीया) के दिन इस ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थमें धर्मका स्वरूप संक्षेपमें भलीभाँति समझाया गया है; और वह भी ऐसी सरल-सुबोध भाषामें कि बालकसे लेकर वृद्ध तक सभी सरलतापूर्वक समझ सकें।

इस ग्रन्थमें छह ढालें (छह प्रकरण) हैं, उनमें आनेवाले विषयोंका वर्णन यहाँ संक्षेपमें किया जाता है—

जीवकी अनादिकालीन सात भूलें

इस ग्रन्थकी दूसरी ढालमें जीवकी अनादिसे चली आ रही सात भूलोंका स्वरूप दिया गया है, वह संक्षेपमें निम्नानुसार है—

(१) "शरीर है सो मैं हूँ,"—ऐसा यह जीव अनादिकालसे मान रहा है· इसलिये मैं शरीरके कार्य कर सकता हूँ, शरीरका हलन-चलन मुझसे होता है; शरीर निरोग हो तो मुझे लाभ हो;— इत्यादि प्रकारसे वह शरीरको अपना मानता है, यह महान भ्रम है। वह जीवको अजीव मानता है; यह जीवतत्त्वकी भूल है।

(२) शरीरकी उत्पत्तिसे वह जीवका जन्म और शरीरके वियोगसे जीवका मरण मानता है; यानी अजीवको जीव मानता है। यह अजीवतत्त्वकी भूल है।

(३) मिथ्यात्व, रागादि प्रगट दुःख देनेवाले हैं; तथापि उनका सेवन करनेमें सुख मानता है; यह आस्रवतत्त्वकी भूल है।

(४) वह शुभको इष्ट (लाभदायी) तथा अशुभको अनिष्ट (हानिकारक) मानता है; किन्तु तत्त्वदृष्टिसे वे दोनों अनिष्ट हैं—ऐसा नहीं मानता। वह बन्धतत्त्वकी भूल है।

(५) सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञानसहित वैराग्य जीवको सुखरूप है, तथापि उन्हें कष्टदायक और समझमें न आये ऐसा मानता है। वह संवरतत्त्वकी भूल है।

(६) शुभाशुभ इच्छाओंको न रोककर इन्द्रिय-विषयोंकी इच्छा करता रहता है, वह निर्जरातत्त्वकी भूल है।

(७) सम्यग्दर्शनपूर्वक ही पूर्ण निराकुलता प्रगट होती है और वही सच्चा सुख है;—ऐसा न मानकर यह जीव बाह्य सुविधाओंमें सुख मानता है, वह मोक्षतत्त्वकी भूल है।

उपरोक्त भूलोंका फल

इस ग्रन्थकी पहली ढालमें इन भूलोंका फल बतलाया है। इन भूलोंके फलस्वरूप जीवको प्रति समय—बारम्बार अनन्त दुःख भोगना पड़ता है अर्थात् चारों गतियोंमें मनुष्य, देव तिर्यंच और नारकीके रूपमें जन्म-मरण करके दुःख सहता है। लोग देवगतिमें सुख मानते हैं, किन्तु वह भ्रमणा है-मिथ्या है। पन्द्रहवें तथा सोलहवें छन्दमें उसका स्पष्ट वर्णन किया है। (संयोग अनुकूल-प्रतिकूल, इष्ट-अनिष्ट नहीं है तथा संयोगसे किसीको सुख-दुःख हो ऐसा नहीं है। किन्तु विपरीत पुरुषार्थसे जीव भूल करता है और उसके कारण दुःखी होता है। सच्चे पुरुषार्थसे भूलको हटाकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और स्वानुभव करता है, उससे सुखी होता है।)

इन गतियोंमें मुख्य गति निगोद—एकेन्द्रियकी है; संसारदशामें जीव अधिकसे अधिक काल उसमें व्यतीत करता है। उस अवस्थाको टालकर दो इन्द्रियसे पंचेन्द्रियकी पर्याय प्राप्त करना दुर्लभ है

और उसमें भी मनुष्यभवकी प्राप्ति तो अति अति-दीर्घकालमें होती है अर्थात् जीव मनुष्यभव नहिंवत् प्राप्त कर पाता है।

धर्म प्राप्त करनेका समय

जीवको धर्म-प्राप्तिका मुख्य काल मनुष्यभवका है। यदि यह जीव धर्मको समझना प्रारम्भ कर दे तो सदाके लिये दुःख दूर कर सकता है; किन्तु मनुष्य पर्यायमें भी या तो धर्मका यथार्थ विचार नहीं करता, या फिर धर्मके नाम पर चलनेवाली अनेक मिथ्या-मान्यताओंमेंसे किसी न किसी मिथ्या-मान्यताका ग्रहण करके कुदेव, कुगुरु तथा कुशास्त्रके चक्रमें फँस जाता है, अथवा तो "सर्व धर्म समान हैं"—ऐसा ऊपरी दृष्टिसे मानकर समस्त धर्मोंका समन्वय करने लगता है और अपनी भ्रमबुद्धिको विशालबुद्धि मानकर अभिमानका सेवन करता है। कभी वह जीव सुदेव सुगुरु और सुशास्त्रका बाह्यस्वरूप समझता है, तथापि अपने सच्चे स्वरूपको समझनेका प्रयास नहीं करता, इसलिये पुनः पुनः संसार-सागरमें भटककर अपना महान काल निगोदगत—एकेन्द्रिय पर्यायमें व्यतीत करता है।

मिथ्यात्वका महापाप

उपरोक्त भूलोंका मुख्य कारण अपने स्वरूपकी भ्रमणा है। परका मैं कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकता है; परसे मुझे लाभ या हानि होते हैं—ऐसी मिथ्या मान्यताका नित्य अपरिमित महापाप जीव प्रतिक्षण सेया करता है; उस महापापको शास्त्रीय परिभाषामें मिथ्यादर्शन कहा जाता है। मिथ्यादर्शनके फलस्वरूप जीव क्रोध, मान, माया, लोभ—जो कि परिमित पाप हैं-उनका तीव्र या मन्दरूपसे सेवन करता है। जीव क्रोधादिकको पाप मानते हैं, किन्तु उनका मूल मिथ्यादर्शनरूप महापाप है, उसे वे नहीं जानते; तो फिर उसका निवारण कैसे करें?

वस्तुका स्वरूप

वस्तुस्वरूप कहो या जैनधर्म—दोनों एक ही हैं। उनकी विधि ऐसी है कि—पहले बड़ा पाप छुड़वाकर फिर छोटा पाप छुड़वाते हैं; इसलिये बड़ा पाप क्या और छोटा पाप क्या—उसे प्रथम समझनेकी आवश्यकता है।

जगतमें सात व्यसन पापबन्धके कारण माने जाते हैं—जुआ, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार, परस्त्रीसेवन तथा चोरी, किन्तु इन व्यसनोंसे भी बढ़कर महापाप मिथ्यात्वका सेवन है; इसलिये जैनधर्म सर्वप्रथम मिथ्यात्वको छोड़नेका उपदेश देता है, किन्तु अधिकांश उपदेशक, प्रचारक और अगुरु मिथ्यात्वके यथार्थ स्वरूपसे अनजान हैं; फिर वे महापापरूप मिथ्यात्वको टालनेका उपदेश कहाँसे दे सकते हैं? वे "पुण्य" को धर्ममें सहायक मानकर उसके उपदेशकी मुख्यता देते हैं और इस प्रकार धर्मके नाम पर महा मिथ्यात्वरूपी पापका अव्यक्तरूपसे पोषण करते हैं। जीव इस भूलको टाल सके इस हेतु इसकी तीसरी तथा चौथी ढालमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका स्वरूप दिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि जीव शुभके बदले अशुभ भाव करे, किन्तु शुभभावको वास्तवमें धर्म अथवा धर्ममें सहायक नहीं मानना चाहिये। यद्यपि निचली दशामें शुभभाव हुए बिना नहीं रहता, किन्तु उसे सच्चा धर्म मानना वह मिथ्यात्वरूप महापाप है।

सम्यक्‌दृष्टिकी भावना

पाँचवीं ढालमें बारह भावनाओंका स्वरूप दर्शाया गया है। वे भावनाएँ सम्यग्दृष्टि जीवको ही यथार्थ होती हैं।

सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवको ही यह बारह प्रकारकी भावनाएँ होती हैं; उनमें जो शुभभाव होता है उसे वे धर्म नहीं मानते किन्तु बन्धका कारण मानते हैं। जितना राग दूर होता है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञानकी जो दृढ़ता होती है, उसे वे धर्म मानते हैं; इसलिये उनके संवर-निर्जरा होती है। अज्ञानीजन तो शुभभावको धर्म अथवा धर्ममें सहायक मानते हैं इसलिये उन्हें सच्ची भावना नहीं होती।

सम्यक्चारित्र तथा महाव्रत

सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपमें स्थिर रहे उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है। स्वरूपमें स्थिर न रह सके उसे शुभभावरूप अणुव्रत या महाव्रत होते हैं, किन्तु उनमें होनेवाले शुभभावको वे धर्म नहीं मानते।—आदिका वर्णन छठवीं ढालमें किया है।

द्रव्यार्थिकनयसे निश्चयका स्वरूप तथा उसके आश्रयसे होनेवाली शुद्ध पर्याय

आत्माका स्वभाव त्रिकाली शुद्ध अखण्ड चैतन्यमय है,—वह सम्यग्दर्शनका तथा निश्चयनयका विषय होनेसे द्रव्यार्थिकनय द्वारा उस त्रिकाली शुद्ध अखण्ड चैतन्यस्वरूप आत्माको 'निश्चय' कहा जाता है, आत्माका वह त्रिकाली सामान्यस्वभाव द्रव्यार्थिकनयसे आत्माका स्वरूप है, उस त्रैकालिक शुद्धताकी ओर उन्मुखतासे जीवकी जो शुद्ध पर्याय प्रगट होती है उसे 'व्यवहार' कहा जाता है, वह सद्भूतव्यवहार है; और अपनी वर्तमान पर्यायमें जो विकारका अंश रहता है वह पर्याय असद्भूतव्यवहारनयका विषय है। असद्भूतव्यवहार जीवका

परमार्थस्वरूप न होनेसे दूर हो सकता है और इसलिये निश्चयनयसे वह जीवका स्वरूप नहीं है—ऐसा समझना।

पर्यायार्थिकनयसे निश्चय और व्यवहारका स्वरूप अथवा निश्चय तथा व्यवहार पर्यायका स्वरूप

उपरोक्त स्वरूपको न जाननेवाले जीव ऐसा मानते हैं कि शुभ करते-करते धर्म (शुद्धता) होता है; तथा वे शुभको व्यवहार मानते हैं और व्यवहार करते-करते भविष्यमें निश्चय (शुद्धभाव-धर्म) हो जायेगा ऐसा मानते हैं—यह एक महान भूल है; इसलिये उसका सच्चा स्वरूप यहां संक्षेपमें दिया जाता है—

सम्यग्दृष्टि जीवको निश्चय (शुद्ध) और व्यवहार (शुभ) ऐसी चारित्रकी मिश्र पर्यायें निचली दशामें एक ही समय होती हैं। किसी समय निश्चय (शुद्धभाव) मुख्यरूपसे होता है और कभी व्यवहार (शुभभाव) मुख्यरूपसे होता है। इसका अर्थ ऐसा है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपमें स्थिर रहे उसका नाम निश्चयपर्याय (शुद्धता) है; और जब उसमें स्थिर न रह सके तब भी स्वसन्मुखताको मुख्य रखकर अशुभभावको दूर करके शुभमें रहे तथा उस शुभको धर्म न माने, उसे व्यवहारपर्याय (शुभपर्याय) कहा जाता है क्योंकि उस जीवको अल्प समयमें शुभपर्याय दूर होकर शुद्धपर्याय प्रगट होती है। —इस अपेक्षाको लक्षमें रखकर व्यवहार साधक तथा निश्चय साध्य—ऐसा पर्यायार्थिकनयसे कहा जाता है. इसका अर्थ ऐसा है कि सम्यग्दृष्टिकी शुभपर्याय दूर होकर क्रमशः शुद्धपर्याय होती जाती है। यह दोनों पर्यायें होनेसे वह पर्यायार्थिकनयका विषय है। इस ग्रन्थमें कुछ स्थानों पर निश्चय और व्यवहार शब्दोंका प्रयोग किया गया है, वहाँ उनका अर्थ इसीप्रकार समझना चाहिये। व्यवहार (शुभभाव)का

व्यय वह साधक और निश्चय (शुद्धभाव) का उत्पाद वह साध्य—ऐसा उनका अर्थ होता है; उसे संक्षेपमें "व्यवहार साधक और निश्चय साध्य"—ऐसा पर्यायार्थिकनयसे कहा जाता है।

अन्य विषय

इस ग्रंथमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा आदि विषयोंका स्वरूप दिया गया है। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिका दूसरा नाम है; क्योंकि बाह्य संयोग-वियोग, शरीर, राग, देव-गुरु-शास्त्र आदिसे अपनेको परमार्थतः लाभ होता है—ऐसा वह मानता है। अन्तरात्मा सम्यग्‌दृष्टिका दूसरा नाम है; क्योंकि वह मानता है कि अपने अन्तरसे ही अर्थात् अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वरूपके आश्रयसे ही अपनेको लाभ हो सकता है। परमात्मा वह आत्माकी सम्पूर्ण शुद्ध दशा है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषय इस ग्रन्थमें लिये हैं; उन सबको सावधानी पूर्वक समझना आवश्यक है।

पाठकोंसे निवेदन

पाठकोंको इस ग्रन्थका सूक्ष्मदृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये; क्योंकि सत्‌शास्त्रका धर्मबुद्धिपूर्वक अभ्यास वह सम्यग्दर्शनका कारण है। इसके उपरान्त शास्त्राभ्यासमें निम्नोक्त बातोंका ध्यान रहना चाहिये:—

(१) सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना किसी भी जीवको सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि नहीं होते; क्योंकि वह क्रिया प्रथम पाँचवें गुणस्थानमें शुभभावरूपसे होती है।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको होता है; किंतु अज्ञानी

उससे धर्म होगा, हित होगा ऐसा मानता है और ज्ञानीकी दृष्टिमें हेय होनेसे वह उससे कदापि हितरूप धर्मका होना नहीं मानता।

(४) इससे ऐसा नहीं समझना कि धर्मीको शुभभाव होता ही नहीं; किन्तु वह शुभभावको धर्म अथवा उससे क्रमशः धर्म होगा ऐसा नहीं मानता; क्योंकि अनन्त वीतरागदेवोंने उसे बन्धका कारण कहा है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता; उसे परिणमित नहीं कर सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, लाभ-हानि नहीं कर सकता, उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता, उसकी सहायता या उपकार नहीं कर सकता; उसे मार या जिला नहीं सकता—ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी सम्पूर्ण स्वतंत्रता अनन्त ज्ञानियोंने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि प्रथम सम्यक्त्व और फिर व्रतादि होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान् द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेसे होता है। इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि बनना चाहिये।

(७) पहले गुणस्थानमें जिज्ञासु जीवोंको शास्त्राभ्यास, अध्ययन-मनन, ज्ञानी पुरुषोंका धर्मोपदेश-श्रवण, निरन्तर उनका समागम, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान आदि शुभभाव होते हैं, किंतु पहले गुणस्थानमें सच्चे व्रत, तप आदि नहीं होते।

ऊपरी दृष्टिसे देखनेवालोंको निम्नोक्त दो शंकाएँ होनेकी सम्भावना है—

(१) ऐसे कथन सुनने या पढ़नेसे लोगोंको अत्यन्त हानि होना सम्भव है। (२) इस समय लोग कुछ व्रत, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमणादिक क्रियाएँ करते हैं उन्हें छोड़ देंगे।

उसका स्पष्टीकरण यह है:—

सत्यसे किसी भी जीवको हानि होगी—ऐसा कहना ही बड़ी भूल है, अथवा असत् कथनसे लोगोंको लाभ माननेके बराबर है। सत्का श्रवण या अध्ययन करनेसे जीवोंको कभी हानि हो ही नहीं सकती। व्रत-प्रत्याख्यान करनेवाले ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी,—यह जानना आवश्यक है। यदि वे अज्ञानी हों तो उन्हें सच्चे व्रतादि होते ही नहीं, इसलिये उन्हें छोड़नेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यदि व्रत करनेवाले ज्ञानी होंगे तो छद्मस्थदशामें वे व्रतका त्याग करके अशुभमें जायेंगे—ऐसा मानना न्याय-विरुद्ध है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि वे क्रमशः शुभभावको टालकर शुद्धभावकी वृद्धि करें... और वह तो लाभका कारण है--हानिका नहीं। इसलिये सत्य कथनसे किसीको हानि हो ही नहीं सकती।

जिज्ञासुजन विशेष स्पष्टतासे समझ सकें-इस बातको लक्षमें रखकर श्री ब्रह्मचारी गुलाबचन्दजीने मूल गुजराती पुस्तकमें यथासम्भव शुद्धि-वृद्धि की है। अन्य जिन-जिन बन्धुओंने इस कार्यमें सहयोग दिया है उन्हें हार्दिक धन्यवाद!

यह गुजराती पुस्तकका अनुवाद है। इसका अनुवाद श्री मगनलालजी जैन, (वल्लभविद्यानगर)ने किया है जो हमारी संस्थाके कई ग्रन्थोंके और आत्मधर्म-पत्रके अनुवादक हैं: अच्छी तरह अनुवाद करनेके लिये उन्हें धन्यवाद!

श्री वर्द्धमान जयन्ती,
वीर सं० २४८७
वि० सं० २०१७
सोनगढ (सौराष्ट्र)

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
पहली ढाल	१–२०.
मंगलाचरण	१
ग्रन्थरचनाका उद्देश्य, जीवकी चाह	३
गुरुशिक्षा और संसारका कारण	४
ग्रन्थकी प्रामाणिकता	५
निगोदके दुःखोंका वर्णन	५
तिर्यंचगतिमें त्रसपर्यायकी दुर्लभता और उसका दुःख	७
नरकगतिके दुःख, भूमि, वृक्ष, नदी, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यासका वर्णन	८–१५
मनुष्यगतिके दुःख	१६
देवगतिके दुःख	१८–१९
सारांश	२०
भेद-संग्रह	२३
अन्तर-प्रदर्शन	२७
प्रश्नावाली	२८
दूसरी ढाल	३०–५१
संसारपरिभ्रमणका कारण	३०
अगृहीत मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्वका लक्षण	३१
जीवतत्त्वके विषयमें मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा)	३२
मिथ्यादृष्टिका शरीर तथा परवस्तुओं सम्बन्धी विचार	३३

अजीव और आस्रवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा ३४
बन्ध और संवरतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा ३६
निर्जरा और मोक्षकी विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान ३७
अगृहीत मिथ्याचारित्रका लक्षण ३९
गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरुके लक्षण ४०
कुदेव–मिथ्यादेवका स्वरूप ४१
कुधर्म, गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान ४२
गृहीत मिथ्याचारित्र, उसके त्यागका तथा
आत्महितमें लगनेका उपदेश ४५
दूसरी ढालका सारांश ४७
,, ,, भेद-संग्रह लक्षण-संग्रह ४९
,, ,, की प्रश्नावली ५०

तीसरी ढाल ५२–९२

आत्महित, सच्चा सुख तथा दो प्रकारसे मोक्षमार्गका कथन ५२
निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान–चारित्रका स्वरूप ५५
व्यवहारसम्यक्त्वका स्वरूप ५६
जीवके भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा ५७
मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा तथा सकल परमात्मा ६०
निकल परमात्माका लक्षण तथा परमात्माके ध्यानका उपदेश ६२
अजीव–पुद्गल, धर्म और अधर्मके लक्षण तथा भेद ६३
आकाश, काल और आस्रवके लक्षण तथा भेद ६५
आस्रवत्यागका उपदेश, बन्ध, संवर, निर्जराका लक्षण ६७

मोहका लक्षण, व्यवहारसम्यक्त्वका लक्षण तथा कारण ७०
सम्यक्त्वके पच्चीस दोष तथा आठ गुण ७१
सम्यक्त्वके आठ गुण और शंकादि आठ दोष ७४
मद नामक आठ दोष ७७
छह अनायतन और तीन मूढता दोष ७९
अव्रती सम्यग्दृष्टिकी इन्द्रादि द्वारा पूजा और [illegible]
गृहस्थपनेमें अप्रीति ७९
सम्यक्त्वकी महिमा, सम्यग्दृष्टिके अनुत्पत्तिस्थान [illegible]
तथा सर्वोत्तम सुख और सर्वधर्मका मूल ८१
सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्रका मिथ्यापना ८३
तीसरी ढालका सारांश ८४
,, भेद-संग्रह लक्षण-संग्रह ८६–८७
,, अन्तर प्रदर्शन प्रश्नावली ९०–९१
चौथी ढाल ९३–१२७
सम्यग्ज्ञानका लक्षण और उसका समय ९३
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अन्तर ९४
सम्यग्ज्ञानके भेद, परोक्ष और देशप्रत्यक्षके लक्षण ९६
सकलप्रत्यक्ष ज्ञानका लक्षण और ज्ञानकी महिमा ९८
ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मनाशमें अन्तर ९९
ज्ञानके दोष और मनुष्यपर्याय आदिकी दुर्लभता १००
सम्यग्ज्ञानकी महिमा और कारण १०२
सम्यग्ज्ञानकी महिमा और विषयेच्छा रोकनेका उपाय १०४

पुण्य-पापमें हर्ष-विषादका निषेध, तात्पर्यकी बात १०५
सम्यक्चारित्रका समय और भेद, अहिंसा तथा सत्याणुव्रत १०८
अचौर्य-ब्रह्मचर्य-परिग्रहपरिमाण अणुव्रत तथा दिग्व्रत ११०
देशव्रत (देशावकाशिक) नामक गुणव्रत ११२
अनर्थदंडव्रतके भेद और उनका लक्षण ११२
सामायिक, प्रोषध, भोगोपभोगपरिमाण और
अतिथिसंविभाग व्रत ११५
निरतिचार श्रावकव्रत पालनेका फल ११६
चौथी ढालका सारांश ११८
" भेद-संग्रह लक्षण-संग्रह १२२
" अन्तर-प्रदर्शन १२५
" की प्रश्नावली १२६
पांचवीं ढाल १२८-१५०
भावनाओंके चिन्तवनका कारण, उसके अधिकारी
और उसका फल १२८
भावनाओंका फल और मोक्षसुखकी प्राप्तिका समय १२९
अनित्य, अशरण, संसार, एकत्वभावना १३०-१३२
अन्यत्व, अशुचिभावना १३४-१३६
आस्रव, संवर, निर्जरा, लोकभावना १३७-१४१
बोधिदुर्लभ, धर्मभावना १४२-१४३
आत्मानुभवपूर्वक भावलिंगी मुनिका स्वरूप १४४
पाँचवीं ढालका सारांश १४५

पाँचवीं ढालका भेद-संग्रह लक्षण-संग्रह	१४६
,, ,, अन्तर प्रदर्शन प्रश्नावली	१४९
छठवीं ढाल	**१५१-१८६**
अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य महाव्रतके लक्षण	१५१
परिग्रहत्याग महाव्रत, ईर्यासमिति, भाषासमिति	१५३
एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति	१५६
तीन गुप्ति और पाच इन्द्रियो पर विजय	१५८
मुनियोंके छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण	१६०
मुनियोंके शेष गुण तथा राग—द्वेषका अभाव	१६१
मुनियोंके तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र	१६४
शुद्धोपयोगका वर्णन	१६७-१६८
स्वरूपाचरणचारित्रका लक्षण और निर्विकल्प ध्यान	१७०
स्वरूपाचरणचारित्र और अर्हन्तदशा	१७१
सिद्धदशा (सिद्ध स्वरूप) का वर्णन	१७३
मोक्षदशाका विशेष वर्णन	१७५
रत्नत्रयका फल और आत्महितमें प्रवृत्तिका उपदेश	१७६
अन्तिम सीख	१७८
ग्रन्थ-रचनाका काल और उसमें आधार	१७९
छठवीं ढालका सारांश	१८०
,, ,, भेद-संग्रह लक्षण-संग्रह	१८१-१८४
,, ,, अन्तर प्रदर्शन तथा प्रश्नावली	१८६

* श्रीसद्गुरुदेवाय नमः *

अध्यात्मप्रेमी कविवर पं० दौलतरामजी कृत

छहढाला

(सुबोध टीका)

पहली ढाल

—मंगलाचरण—

(सोरठा)

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(वीतराग) रागद्वेष रहित, (विज्ञानता) केवलज्ञान (तीन भुवनमें) तीन लोकमें (सार) उत्तम वस्तु (शिवस्वरूप) आनन्दस्वरूप [और] (शिवकार) मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, उसे मैं (त्रियोग) तीन योगसे (सम्हारिकैं) सावधानी पूर्वक (नमहुं) नमस्कार करता हूँ।

नोटः—इस ग्रन्थमें सर्वत्र ( ) यह चिह्न मूल ग्रन्थके पदका है और [ ] इस चिह्नका प्रयोग संधि मिलानेके लिये किया गया है।
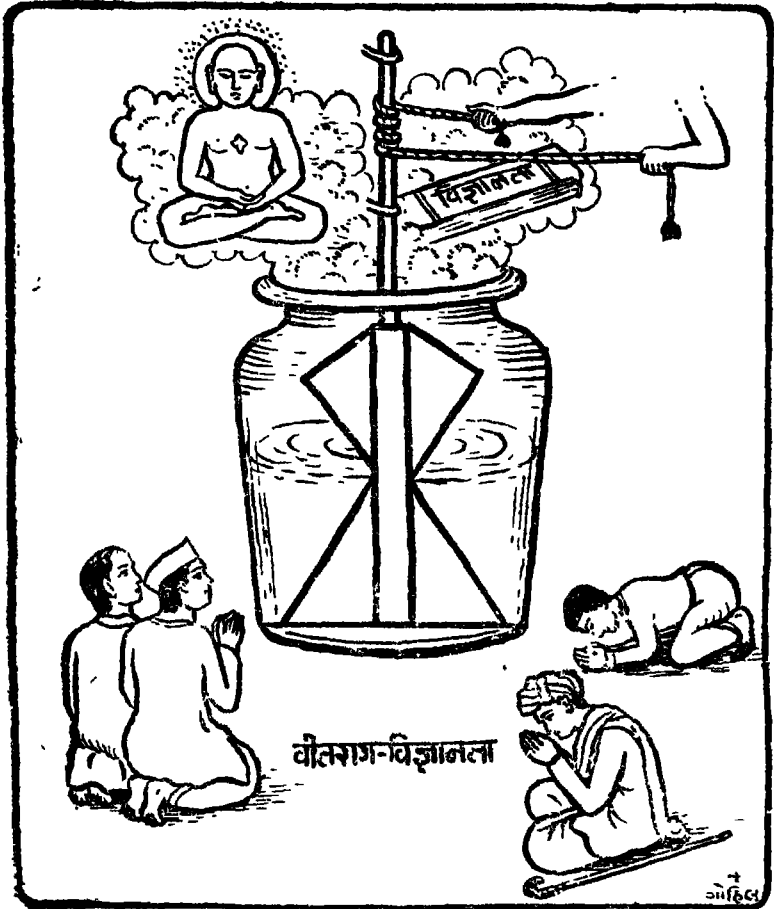
भावार्थः—रागद्वेषरहित "केवलज्ञान" ऊर्ध्व, मध्य और अधो-इन तीन लोकमें उत्तम, आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक है,

इसलिये मैं (दौलतराम) अपने त्रियोग अर्थात् मन-वचन-काय द्वारा सावधानी पूर्वक उस वीतराग (१८ दोष रहित) स्वरूप केवलज्ञानको नमस्कार करता हूँ । १ ।

ग्रन्थ रचनाका उद्देश्य और जीवोंकी इच्छा

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त ।
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(त्रिभुवनमें) तीनों लोकमें (जे) जो (अनन्त) अनन्त (जीव) प्राणी [हैं वे] (सुख) सुखकी (चाहैं) इच्छा करते हैं और (दुखतैं) दुःखसे (भयवन्त) डरते हैं (तातैं) इसलिये (गुरु) आचार्य (करुणा) दया (धार) करके (दुखहारी) दुःखका नाश करनेवाली और (सुखकार) सुखको देनेवाली (सीख) शिक्षा (कहैं) कहते हैं ।

भावार्थः—तीन लोकमें जो अनन्त जीव (प्राणी) हैं वे दुःखसे डरते हैं और सुखको चाहते हैं इसलिये आचार्य दुःखका नाश करनेवाली तथा सुख देनेवाली शिक्षा देते हैं । २ ।

गुरुशिक्षा सुननेका आदेश तथा संसार-परिभ्रमणका कारण

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान;
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(भवि) हे भव्य जीवो ! (जो) यदि (अपनो) अपना (कल्यान) हित (चाहो) चाहते हो [तो] (ताहि) गुरुकी वह शिक्षा (मन) मनको (थिर) स्थिर (आन) करके (सुनो) सुनो [कि इस संसारमें प्रत्येक प्राणी] (अनादि) अनादिकालसे (मोह महामद) मोहरूपी महामदिरा (पियो) पीकर, (आपको) अपने आत्माको (भूल) भूलकर (वादि) व्यर्थ (भरमत) भटक रहा है ।

भावार्थः—हे भव्य प्राणियो ! यदि अपना हित चाहते हो तो, अपने मनको स्थिर करके यह शिक्षा सुनो । जिस प्रकार कोई शराबी मनुष्य तेज शराब पीकर, नशेमें चकचूर होकर, इधर-उधर डगमगाकर गिरता है, उसीप्रकार यह जीव अनादिकालसे मोहमें फँसकर, अपनी

आत्माके स्वरूपको भूलकर चारों गतियोंमें जन्म-मरण धारण करके भटक रहा है । ३ ।

इस ग्रन्थकी प्रामाणिकता और निगोदका दुःख

तास भ्रमनकी है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;
काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्री तन धार ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(**तास**) उस संसारमें (**भ्रमनकी**) भटकनेकी (**कथा**) कथा (**बहु**) बड़ी (**है**) है (**पै**) तथापि (**यथा**) जैसी (**मुनि**) पूर्वाचार्योंने (**कही**) कही है [तदनुसार मैं भी] (**कछु**) थोड़ी-सी (**कहूं**) कहता हूँ [कि इस जीवका] (**निगोद मँझार**) निगोदमें (**एकेन्द्री**) एकेन्द्रिय जीवके (**तन**) शरीर (**धार**) धारण करके (**अनंत**) अनंत (**काल**) काल (**बीत्यो**) व्यतीत हुआ है ।

भावार्थः—संसारमें जन्म-मरण धारण करनेकी कथा बहुत बड़ी है । तथापि जिसप्रकार पूर्वाचार्योंने अपने अन्य ग्रन्थोंमें कही है, तदनुसार मैं (दौलतराम) भी इस ग्रन्थमें थोड़ी-सी कहता हूँ । इस जीवने नरकसे भी निकृष्ट निगोदमें एकेन्द्रिय जीवके शरीर धारण किये अर्थात साधारण वनस्पतिकायमें उत्पन्न होकर वहाँ अनंतकाल व्यतीत किया है । ४ ।

निगोदका दुःख और वहाँसे निकलकर प्राप्त की हुई पर्यायें

एक श्वासमें अठदस बार, जन्म्यो मर्यो भर्यो दुखभार;
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—[निगोदमें यह जीव] (एक श्वासमें) एक साँसमें (अठदस बार) अठारह बार (जन्यो) जनमा और (मर्यो) मरा [तथा] (दुखभार) दुःखोंके समूह (भर्यो) सहन किये [और वहाँसे] (निकसि) निकलकर (भूमि) पृथ्वी-कायिक जीव, (जल) जलकायिक जीव, (पावक) अग्निकायिक जीव (भयो) हुआ, तथा (पवन) वायुकायिक जीव [और] (प्रत्येक वनस्पति) प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव (थयो) हुआ।

भावार्थः—निगोद [साधारण वनस्पति] में इस जीवने एक श्वासमात्र (जितने) समयमें अठारह बार जन्म* और मरण× करके अपार दुःख सहन किये हैं। और वहाँसे निकलकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव+ के रूपमें उत्पन्न हुआ। ५।

---

* नया शरीर धारण करना।

× वर्तमान शरीरका त्याग।

\+ निगोदसे निकलकर ऐसी पर्यायें धारण करनेका कोई निश्चित क्रम नहीं है; निगोदसे एकदम मनुष्य पर्याय भी प्राप्त हो सकती है। जैसे कि—भरतके ३२ हजार पुत्रोंने निगोदसे सीधी मनुष्य पर्याय प्राप्त की और मोक्ष गये।

तिर्यंचगतिमें त्रस पर्यायकी दुर्लभता और उसका दुःख

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रसतणी;
लट पिपील अलि आदि शरीर, धर धर मर्‍यो सही बहु पीर ॥ ६ ॥
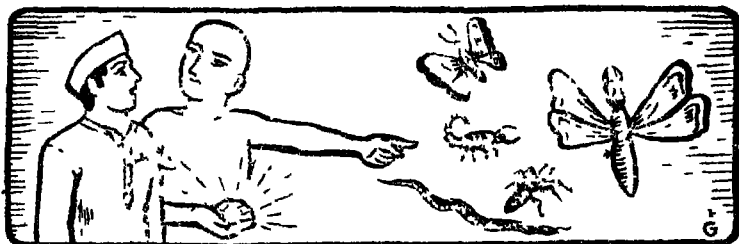
अन्वयार्थः—(**ज्यों**) जिसप्रकार (**चिन्तामणि**) चिन्तामणि रत्न (**दुर्लभ**) कठिनाईसे (**लहि**) प्राप्त होता है (**त्यों**) उसीप्रकार (**त्रसतणी**) त्रसकी (**पर्याय**) पर्याय [भी बड़ी कठिनाईसे] (**लही**) प्राप्त हुई। [वहाँ भी] (**लट**) इल्ली (**पिपील**) चींटी (**अलि**) भँवरा (**आदि**) इत्यादिके (**शरीर**) शरीर (**धर धर**) बारम्बार धारण करके (**मर्‍यो**) मरणको प्राप्त हुआ [**और**] (**बहु पीर**) अत्यन्त पीड़ा (**सही**) सहन की।

भावार्थः—जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है उसी प्रकार इस जीवने त्रसकी पर्याय बड़ी कठिनतासे प्राप्त की। उस त्रस पर्यायमें भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव और भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीवके शरीर धारण करके मरा और अनेक दुःख सहन किये। ६।

तिर्यंचगतिमें असंज्ञी तथा संज्ञीके दुःख

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो;
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—[यह जीव] (कबहूँ) कभी (पंचेन्द्रिय) पंचेन्द्रिय (पशु) तिर्यंच (भयो) हुआ [तो] (मन बिन) मनके बिना (निपट) अत्यन्त (अज्ञानी) मूर्ख (थयो) हुआ [और] (सैनी) सञ्ज्ञी [भी] (ह्वै) हुआ [तो] (सिंहादिक) सिंह आदि (क्रूर) क्रूर जीव (ह्वै) होकर (निबल) अपनेसे निर्बल, (भूर) अनेक (पशु) तिर्यंच (हति) मार-मारकर (खाये) खाये ।

भावार्थः—यह जीव कभी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पशु भी हुआ तो मनरहित होनेसे अत्यन्त अज्ञानी रहा; और कभी संज्ञी हुआ तो सिंह आदि क्रूर–निर्दय होकर, अनेक निर्बल जीवोंको मार-मारकर खाया तथा घोर अज्ञानी हुआ । ७ ।

तिर्यंचगतिमें निर्बलता तथा दुःख

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन;
छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन, हिम, आतप त्रास ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—[यह जीव तिर्यंच गतिमें] (कबहूँ) कभी (आप) स्वयं (बलहीन) निर्बल (भयो) हुआ [तो] (अतिदीन) असमर्थ होनेसे (सबलनि करि) अपनेसे बलवान प्राणियों द्वारा (खायो) खाया गया [और] (छेदन) छेदा जाना, (भेदन) भेदा जाना, (भूख) भूख (पियास) प्यास, (भार-वहन) बोझ ढोना, (हिम) ठण्ड (आतप) गर्मी [आदिके] (त्रास) दुख सहन किये।

भावार्थः—जब यह जीव तिर्यंचगतिमें किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होनेके कारण अपनेसे बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया; तथा उस तिर्यंचगतिमें छेदा जाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बोझ ढोना, ठण्ड, गर्मी आदिके दुःख भी सहन किये। ८।

तिर्यंचके दुःखकी अधिकता और नरक गतिकी प्राप्तिका कारण

बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभतैं जात न भने;
अति संक्लेश भावतैं मर्यो, घोर श्वभ्रसागरमें पर्यो ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—[इस तिर्यंचगतिमें जीवने अन्य भी] (बध) मारा जाना, (बंधन) बँधना (आदिक) आदि (घने) अनेक (दुख) दुःख सहन किये; [वे] (कोटि) करोड़ों (जीभतैं) जीभोंसे (भने न जात) नहीं कहे जा सकते। [इस कारण] (अति संक्लेश) अत्यन्त बुरे (भावतैं) परिणामोंसे (मर्यो) मरकर (घोर) भयानक (श्वभ्रसागर में) नरकरूपी समुद्रमें (पर्यो) जा गिरा।

भावार्थः—इस जीवने तिर्यंचगतिमें मारा जाना, बँधना आदि अनेक दुःख सहन किये; जो करोड़ों जीभोंसे भी नहीं कहे जा सकते। और अंतमें इतने बुरे परिणामों (आर्तध्यान) से मरा कि जिसे बड़ी कठिनतासे पार किया जा सके ऐसे समुद्र समान घोर नरकमें जा पहुँचा। ९।

नरकोंकी भूमि और नदियोंका वर्णन

तहां भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसे नहिं तिसो;
तहां राध-श्रोणितवाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(तहां) उस नरकमें (भूमि) धरती (परसत) स्पर्श करनेसे (इसो) ऐसा (दुख) दुःख होता है [कि] (सहस) हजारों (बिच्छू) बिच्छू (डसे) डंक मारें तथापि (नहिं तिसो) उसके समान दुःख नहीं होता [तथा] (तहाँ) वहाँ [नरकमें] (राध-श्रोणितवाहिनी) रक्त और मवाद बहानेवाली नदी [वैतरणी नामक नदी] है जो (कृमिकुलकलित) छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ोंसे भरी है तथा (देह-दाहिनी) शरीरमें दाह उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थः—उन नरकोंकी भूमिका स्पर्शमात्र करनेसे नारकियोंको इतनी वेदना होती है कि हजारों बिच्छू एकसाथ डंक मारें तब भी उतनी वेदना न हो। तथा उस नरकमें रक्त, मवाद और छोटे-छोटे कीड़ोंसे भरी हुई, शरीरमें दाह उत्पन्न करने वाली एक वैतरणी नदी है, जिसमें शांतिलाभकी इच्छासे नारकी जीव कूदते हैं; किन्तु वहाँ तो उनकी पीड़ा अधिक भयंकर हो जाती है।

(जीवोंको दुःख होनेका मूल कारण तो उनकी शरीरके साथ ममता तथा एकत्वबुद्धि ही है; धरतीका स्पर्श आदि तो मात्र निमित्त-कारण है।)। १०।

नरकोंके सेमल वृक्ष तथा सर्दी–गर्मीके दुःख

सेमर तरु दलजुत असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र;
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय॥ ११॥

अन्वयार्थः—(**तत्र**) उन नरकोंमें (**असिपत्र ज्यों**) तलवार-की धारकी भाँति तीक्ष्ण (**दलजुत**) पत्तोंवाले (**सेमर तरु**) सेमलके वृक्ष [हैं, जो] (**देह**) शरीरका (**असि ज्यों**) तलवारकी भाँति (**विदारैं**) चीर देते हैं, [और] (**तत्र**) वहाँ [उस नरकमें] (**ऐसी**) ऐसी (**शीत**) ठण्ड [और] (**उष्णता**) गरमी (**थाय**) होती है [कि] (**मेरु समान**) मेरु पर्वतके बराबर (**लोह**) लोहेका गोला भी (**गलि**) गल (**जाय**) सकता है।

भावार्थः—उन नरकोंमें अनेक सेमलके वृक्ष हैं, जिनके पत्ते तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण होते हैं। जब दुःखी नारकी छाया मिलनेकी आशा लेकर उस वृक्षके नीचे जाता है, तब उस वृक्षके पत्ते गिरकर उसके शरीरको चीर देते हैं। उन नरकोंमें इतनी गरमी होती है कि एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वतके बराबर लोहेका

पिण्ड भी पिघल* जाता है; तथा इतनी ठण्ड पड़ती है कि सुमेरुके समान लोहेका गोला भी गल+ जाता है। जिसप्रकार लोकमें कहा जाता है कि ठण्डके मारे हाथ अकड़ गये, हिम गिरनेसे वृक्ष या अनाज जल गया आदि। यानी अतिशय प्रचंड ठण्डके कारण लोहेमें चिकनाहट

---

* मेरुसम लोहपिण्डं. सीदं उण्हे विलम्मि पक्खित्तं।
ण लहदि तलप्पदेशं, विलीयदे मयणखण्डं वा॥

\+ मेरुसम लोहपिण्डं, उण्हं सीदे विलम्मि पक्खित्तं।
ण लहदि तलं पदेश, विलीयदे लवणखण्डं वा॥

* अर्थः—जिसप्रकार गर्मीमें मोम पिघल जाता है (बहने लगता है) उसीप्रकार सुमेरु पर्वतके बराबर लोहेका गोला गर्म बिलमें फेंका जाये तो वह बीचमें ही पिघलने लगता है।

\+ तथा जिसप्रकार ठण्ड और बरसातमें नमक गल जाता है (पानी बन जाता है) उसी प्रकार सुमेरुके बराबर लोहेका गोला ठण्ड बिलमें फेंका जाये तो बीचमें ही गलने लगता है। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे नरककी भूमि गर्म है; पाँचवें नरकमें ऊपरकी भूमि गर्म तथा नीचे तीसरा भाग ठण्डा है। छठवें तथा सातवें नरककी भूमि ठण्डी है।

कम हो जानेसे उसका स्कंध बिखर जाता है। ११।

नरकोंमें अन्य नारकी, असुरकुमार तथा प्यासका दुःख

तिल-तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड;
सिन्धुनीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—[उन नरकोंमें नारकी जीव एक-दूसरेके] (देहके) शरीरके (तिल-तिल) तिल्लीके दाने बराबर (खण्ड) टुकड़े (करे) कर डालते हैं [और] (प्रचण्ड) अत्यन्त (दुष्ट) क्रूर (असुर) असुरकुमार जातिके देव [एक-दूसरेके साथ] (भिड़ावें) लड़ाते हैं; [तथा इतनी] (प्यास) प्यास [लगती है कि] (सिन्धुनीर तैं) समुद्रभर पानी पीनेसे भी (न जाय) शांत न हो, (तो पण) तथापि (एक बूँद) एक बूँद भी (न लहाय) नहीं मिलती।

भावार्थः—उन नरकोंमें नारकी एक-दूसरेको दुःख देते रहते हैं अर्थात् कुत्तोंकी भाँति हमेशा आपसमें लड़ते रहते हैं। वे एक-दूसरेके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं,

तथापि उनके शरीर बारम्बार पारे* की भाँति बिखर कर फिर जुड़ जाते हैं। संक्लिष्ट परिणामवाले अम्बरीष आदि जातिके असुरकुमार देव पहले, दूसरे तथा तीसरे नरक तक जाकर वहाँकी तीव्र यातनाओंमें पड़े हुए नारकियोंको अपने अवधिज्ञानके द्वारा परस्पर वैर बतलाकर अथवा क्रूरता और कुतूहलसे आपसमें लड़ाते हैं और स्वयं आनन्दित होते हैं। उन नारकी जीवोंको इतनी महान प्यास लगती है कि मिल जाये तो पूरे महासागरका जल भी पी जायें तथापि तृषा शांत न हो; किन्तु पीनेके लिये जलकी एक बूँद भी नहीं मिलती। १२।

नरकोंकी भूख, आयु और मनुष्यगति प्राप्तिका वर्णन

तीनलोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय;
ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम जोगतैं नरगति लहै ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—[उन नरकोंमें इतनी भूख लगती है कि] (तीन-

---

* पारा एक धातुके रस समान होता है। धरती पर फेंकनेसे वह अमुक अंशमें छार-छार होकर बिखर जाता है और पुनः एकत्रित कर देनेसे एक पिण्डरूप बन जाता है।

लोकको) तीनों लोकका (नाज) अनाज (जु खाय) खा जाये तथापि (भूख) क्षुधा (न मिटै) शांत न हो [परन्तु खानेके लिये] (कणा) एक दाना भी (न लहाय) नहीं मिलता । (ये दुख) ऐसे दुःख (बहु सागर लौं) अनेक सागरोपमकाल तक (सहै) सहन करता है, (करम जोगतें) किसी विशेष शुभकर्मके योगसे (नरगति) मनुष्यगति (लहै) प्राप्त करता है ।

भावार्थः—उन नरकोंमें इतनी तीव्र भूख लगती है कि यदि मिल जाये तो तीनों लोकका अनाज एकसाथ खा जायें तथापि क्षुधा शांत न हो; परन्तु वहाँ खानेके लिये एक दाना भी नहीं मिलता । उन नरकोंमें यह जीव ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल (कमसे कम दस हजार वर्ष और अधिकसे अधिक तेतीस सागरोपम काल तक) भोगता है । फिर किसी शुभकर्मके उदयसे यह जीव मनुष्यगति प्राप्त करता है । ।१३।

मनुष्यगतिमें गर्भनिवास तथा प्रसवकालके दुःख

जननी उदर वस्यो नव मास, अंग सकुचतैं पायो त्रास;
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—[मनुष्यगतिमें भी यह जीव] (नव मास) नौ महीने तक (जननी) माताके (उदर) पेटमें (वस्यो)

रहा; [तब वहाँ] (अंग) शरीर (सकुचतें) सिकोड़कर रहनेसे (त्रास) दुःख (पायो) पाया, [और] (निकसत) निकलते समय (जे) जो (घोर) भयंकर (दुख पाये) दुःख पाये (तिनको) उन दुःखोंको (कहत) कहनेसे (ओर) अन्त (न आवे) नहीं आ सकता।

भावार्थः—मनुष्यगतिमें भी यह जीव नौ महीने तक माताके पेटमें रहा, वहाँ शरीरको सिकोड़कर रहनेसे तीव्र वेदना सहन की, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो माताके पेटसे निकलते समय माताका अथवा पुत्रका अथवा दोनोंका मरण भी हो जाता है। १४।

मनुष्यगतिमें बाल, युवा और वृद्धावस्थाके दुःख

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—[मनुष्यगतिमें जीव] (**बालपनेमें**) बचपनमें (**ज्ञान**) ज्ञान (**न लह्यो**) प्राप्त नहीं कर सका [और] (**तरुण समय**) युवावस्थामें (**तरुणी-रत**) युवती स्त्रीमें लीन (**रह्यो**) रहा, [और] (**बूढापनो**) वृद्धावस्था (**अर्धमृतकसम**) अधमरा जैसा [रहा, ऐसी दशामें] (**कैसे**) किस प्रकार [जीव] (**आपनो**) अपना (**रूप**) स्वरूप (**लखै**) देखे–विचारे।

भावार्थः—मनुष्यगतिमें भी यह जीव बाल्यावस्थामें विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया, यौवनावस्थामें ज्ञान तो प्राप्त किया किन्तु स्त्रीके मोह (विषय-भोग) में भूला रहा और वृद्धावस्थामें इन्द्रियोंकी शक्ति कम होगई अथवा मरणपर्यंत पहुँचे ऐसा कोई रोग लग गया कि जिससे अधमरा जैसा पड़ा रहा। इस प्रकार यह जीव तीनों अवस्थाओंमें आत्मस्वरूपका दर्शन (पहिचान) न कर सका। १५।

देवगतिमें भवनत्रिकका दुःख

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुरतन धरै;
विषय-चाह-दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो ॥१६॥
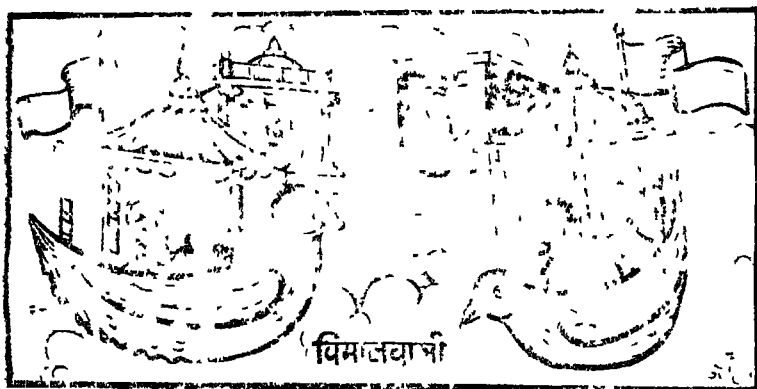
भावार्थः—[इस जीवने] (कभी) कभी (अकामनिर्जरा) अकामनिर्जरा (करै) की [तो मरनेके पश्चात्] (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषीमें (सुरतन) देवपर्याय (धरै) धारण की, [परन्तु वहां भी] (विषयचाह) पांच इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा रूपी (दावानल) भयंकर अग्निमें (दह्यो)

जलता रहा [और] (मरत) मरते समय (विलाप करत) रो रो कर (दुख) दुःख सहन किया।

भावार्थः—जब कभी इस जीवने अकामनिर्जरा की तब मरकर उस निर्जराके प्रभावसे (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमेंसे किसी एकका शरीर धारण किया। वहां भी अन्य देवोंका वैभव देखकर पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छारूपी अग्निमें जलता रहा। फिर मंदारमालाको मुरझाते देखकर तथा शरीर और आभूषणोंकी कान्ति क्षीण होते देखकर अपना मृत्युकाल निकट है ऐसा अवधिज्ञान द्वारा जानकर "हाय, अब यह भोग मुझे भोगनेको नहीं मिलेंगे।" ऐसे विचारसे रो-रोकर अनेक दुःख सहन किये। १६।

अकामनिर्जरा यह सिद्ध करती है कि कर्मके उदयानुसार ही जीव विकार नहीं करता, किन्तु चाहे जैसा कर्मोदय होने पर भी जीव स्वयं पुरुषार्थ कर सकता है।

देवगतिमें वैमानिक देवोंका दुःख

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन विन दुख पाय,
तहतें चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(जो) यदि (विमानवासी) वैमानिक देव (हू) भी (थाय) हुआ [तो वहाँ] (सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन (बिन) बिना (दुख) दुःख (पाय) प्राप्त किया [और] (तहँतें) वहाँसे (चय) मरकर (थावर तन) स्थावर जीवका शरीर (धरं) धारण करता है; (यों) इसप्रकार [यह जीव] (परिवर्तन) पाँच परावर्तन (पूरे करे) पूर्ण करता रहता है।

भावार्थः—यह जीव वैमानिक देवोंमें भी उत्पन्न हुआ किन्तु वहाँ इसने सम्यग्दर्शनके बिना दुःख उठाये और वहाँसे भी मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों* के शरीर धारण किये; अर्थात् पुनः तिर्यंचगतिमें जा गिरा। इसप्रकार यह जीव अनादिकालसे संसारमें भटक रहा है और पांच परावर्तन कर रहा है। १७।

सार

संसारकी कोई भी गति सुखदायक नहीं है। निश्चय-सम्यग्दर्शनसे ही पंच परावर्तनरूप संसार परित होता है। अन्य किसी कारणसे—दया, दानादिके शुभरागसे संसार नहीं टूटता। संयोग सुख-दुःखका कारण नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व (परके साथ एकत्वबुद्धि—कर्त्ताबुद्धि, शुभरागसे धर्म होता है, शुभराग हितकर है ऐसी मान्यता) ही दुःखका कारण है। सम्यग्दर्शन सुखका कारण है।

पहली ढालका सारांश

तीन लोकमें जो अनंत जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुखसे डरते हैं। किन्तु अपना यथार्थ स्वरूप समझें तभी सुखी

---

* मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रिय होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं।

हो सकते हैं। चार गतियोंके संयोग किसी भी सुख-दुःखका कारण नहीं है तथापि परमें एकत्वबुद्धि द्वारा इष्ट-अनिष्टपना मानकर जीव अकेला दुःखी होता है; और वहाँ भ्रमवश होकर कैसे संयोगके आश्रयसे विकार करता है वह संक्षेपमें कहा है।

तिर्यंचगतिके दुःखोंका वर्णन—यह जीव निगोदमें अनंत-काल तक रहकर, वहाँ एक श्वासमें अठारह बार जन्म धारण करके अकथनीय वेदना सहन करता है। वहाँसे निकलकर अन्य स्थावर पर्यायें धारण करता है। त्रसपर्याय तो चिन्तामणि रत्नके समान अति दुर्लभतासे प्राप्त होती है। वहाँ भी विकलत्रय शरीर धारण करके अत्यन्त दुःख सहन करता है। कदाचित् असंज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ तो मनके विना दुःख प्राप्त करता है। संज्ञी हो तो वहाँ भी निर्बल प्राणी बलवान प्राणी द्वारा सताया जाता है। बलवान जीव दूसरोंको दुःख देकर महान पापका बंध करते हैं और छेदन, भेदन, भूख, प्यास, शीत, उष्णता आदिके अकथनीय दुःखोंको प्राप्त होते हैं।

नरकगतिके दुःख—जब कभी अशुभ-पापपरिणामोंसे मृत्यु प्राप्त करते हैं तब नरकमें जाते हैं। वहाँकी मिट्टीका एक कण भी इस लोकमें आ जाये तो उसकी दुर्गंधसे कई कोसोंके संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मर जायें। उस धरतीको छूनेसे भी असह्य वेदना होती है। वहाँ वैतरणी नदी, सेमलवृक्ष, शीत, उष्णता तथा अन्न-जलके अभावसे स्वतः महान् दुःख होता है। जब बिलोंमें औंधे मुँह लटकते हैं तब अपार वेदना होती है। फिर दूसरे नारकी उसे देखते ही कुत्तेकी भांति उसपर टूट पड़ते हैं और मारपीट करते हैं। तीसरे

नरक तक अम्ब और अम्बरीष आदि नामके संक्लिष्ट परिणामी असुरकुमार देव जाकर नारकियोंको अवधिज्ञानके द्वारा पूर्वभवोंके विरोधका स्मरण कराके परस्पर लड़वाते हैं; तब एक-दूसरेके द्वारा कोल्हूमें पिलना, अग्निमें जलना, आरेसे चीरा जाना, कढाईमें उबलना, टुकड़े-टुकड़े कर डालना आदि अपार दुःख उठाते हैं-ऐसी वेदनाएँ निरन्तर सहना पड़ती हैं। तथापि क्षणमात्र साता नहीं मिलती; क्योंकि टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी शरीर पारेकी भाँति पुनः मिलकर ज्योंका त्यों हो जाता है। वहाँ आयु पूर्ण हुए बिना मृत्यु नहीं होती। नरकमें ऐसे दुःख कमसे कम दस हजार वर्ष तक तो सहना पड़ते हैं किन्तु यदि उत्कृष्ट आयुका बंध हुआ तो तेतीस सागरोपम वर्ष तक शरीरका अन्त नहीं होता।

मनुष्यगतिका दुःख—किसी विशेष पुण्यकर्मके उदयसे यह जीव जब कभी मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है, तब नौ महिने तक तो माताके उदरमें ही पड़ा रहता है, वहाँ शरीरको सिकोड़कर रहनेसे महान कष्ट उठाना पड़ता है। वहाँसे निकलते समय जो अपार वेदना होती है उसका तो वर्णन भी नहीं किया जा सकता। फिर बचपनमें ज्ञानके बिना, युवावस्थामें विषय-भोगोंमें आसक्त रहनेसे तथा वृद्धावस्थामें इन्द्रियोंकी शिथिलता अथवा मरणपर्यंत क्षयरोग आदिमें रुकनेके कारण आत्मदर्शनसे विमुख रहता है और आत्मोद्धारका मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता।

देवगतिका दुःख—यदि कोई शुभकर्मके उदयसे देव भी हुआ, तो दूसरे बड़े देवोंका वैभव और सुख देखकर मन ही मन दुःखी होता रहता है। कदाचित् वैमानिक देव भी हुआ, तो वहाँ भी सम्यक्त्वके बिना आत्मिक शांति प्राप्त नहीं कर पाता। तथा अंत समयमें मंदारमाला मुरझा जानेसे, आभूषण और शरीरकी कान्ति क्षीण होनेसे मृत्युको निकट आया जानकर महान दुःख होता है और आर्तध्यान करके हाय-हाय करके मरता है। फिर एकेन्द्रिय जीव तक होता है अर्थात पुनः तिर्यंचगतिमें जा पहुँचता है। इस प्रकार चारों गतियोंमें जीवको कहीं भी सुख-शांति नहीं मिलती। इस कारण अपने मिथ्यात्वभावोंके कारण ही निरन्तर संसारचक्रमें परिभ्रमण करता रहता है।

पहली ढालका भेद-संग्रह

एकेन्द्रियः—पृथ्वीकायिक जीव, अपकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव और वनस्पतिकायिक जीव।

गतिः—मनुष्यगति, तिर्यंचगति, देवगति और नरकगति।

जीवः—संसारी और मुक्त।

त्रसः—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

देवः—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

पंचेन्द्रियः—संज्ञी और असंज्ञी।

योगः—मन, वचन और काय; अथवा द्रव्य और भाव।

लोकः—ऊर्ध्व, मध्य, अधो।

वनस्पतिः—साधारण और प्रत्येक।

वैमानिक—कल्पोत्पन्न, कल्पातीत ।

संसारी—त्रस और स्थावर; अथवा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय और पंचेन्द्रिय ।

पहली ढालका लक्षण-संग्रह

अकामनिर्जरा—सहन करनेकी अनिच्छा होने पर भी जीव रोग, क्षुधादि सहन करता है। तीव्र कर्मोदयमें युक्त न होकर जीव पुरुषार्थ द्वारा मंदकषायरूप परिणमित हो वह ।

अग्निकायिक—अग्नि ही जिसका शरीर होता है ऐसा जीव ।

असंज्ञी—शिक्षा और उपदेश ग्रहण करनेकी शक्ति रहित जीवको असंज्ञी कहते हैं।

इन्द्रिय—आत्माके चिह्नको इन्द्रिय कहते हैं।

एकेन्द्रिय—जिसे एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है ऐसा जीव।

गतिनामकर्म—जो कर्म जीवके आकार नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव जैसे बनाता है।

गति—जिसके उदयसे जीव दूसरी पर्याय (भव) प्राप्त करता है।

चिन्तामणि—जो इच्छा करनेमात्रसे इच्छित वस्तु प्रदान करता है ऐसा रत्न।

तिर्यंचगति—तिर्यंचगति नामकर्मके उदयसे तिर्यंचोंमें जन्म धारण करना।

देवगति—देवगति नामकर्मके उदयसे देवोंमें जन्म धारण करना।

नरक—पापकर्मके उदयमें युक्त होनेके कारण जिस स्थानमें जन्म लेते ही जीव असह्य एवं अपरिमित वेदना अनुभव करने लगता है; तथा दूसरे नारकियों द्वारा सताये जानेके कारण दुःखका अनुभव करता है, तथा जहाँ तीव्र द्वेष-पूर्ण जीवन व्यतीत होता है—वह स्थान। जहाँपर क्षणभर भी ठहरना नहीं चाहता।

नरकगति—नरकगति नामकर्मके उदयसे नरकमें जन्म लेना।

निगोद—साधारण नामकर्मके उदयसे एक शरीरके आश्रयसे अनंतानंत जीव समानरूपसे जिसमें रहते हैं, मरते हैं और पैदा होते हैं उस अवस्थावाले जीवोंको निगोद कहते हैं।

नित्यनिगोद—जहाँके जीवोंने अनादिकालसे आज तक त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की ऐसी जीवराशि। किन्तु भविष्यमें वे जीव त्रस-पर्याय प्राप्त कर सकते हैं।

परिवर्तन—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूप संसारचक्रमें परिभ्रमण।

पंचेन्द्रिय—जिनके पाँच इन्द्रियाँ होती हैं ऐसे जीव।

पृथ्वीकायिक—पृथ्वी ही जिन जीवोंका शरीर है वे।

प्रत्येकवनस्पति—जिसमें एक शरीरका स्वामी एक जीव होता है ऐसे वृक्ष, फल आदि।

भव्य—तीनकालमें किसी भी समय रत्नत्रयप्राप्तिकी योग्यता रखनेवाले जीवको भव्य कहा जाता है।

मन—हित-अहितका विचार तथा शिक्षा और उपदेश ग्रहण करनेकी शक्ति सहित ज्ञान-विशेषको भावमन कहते हैं। हृदयस्थानमें आठ पंखुड़ियोंवाले कमलकी आकृति समान जो पुद्गलपिण्ड उसे जड़-मन अर्थात् द्रव्य-मन कहते हैं।

मनुष्यगति—मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे मनुष्योंमें जन्म लेना अथवा उत्पन्न होना।

मेरु—जम्बूद्वीपके विदेहक्षेत्रमें स्थित एकलाख योजन ऊँचा एक पर्वत विशेष।

मोह—परके साथ एकत्वबुद्धि सो मिथ्यात्वमोह है; यह मोह अपरिमित है; तथा अस्थिरतारूप रागादि सो चारित्रमोह है; यह मोह परिमित है।

लोक—जिसमें जीवादि छह द्रव्य स्थित हैं उसे लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं।

विमानवासी—स्वर्ग और ग्रैवेयक आदिके देव।

वीतरागका लक्षण—

जन्म[1], जरा[2], तृषा[3], क्षुधा[4], विस्मय[5], आरत[6], खेद[7], ।
रोग[8], शोक[9], मद[10], मोह[11], भय[12], निद्रा[13], चिन्ता[14], स्वेद[15], ।
राग[16], द्वेष[17], अरु मरण[18], जुत, ये अष्टादश दोष ।
नाहिं होत जिम जीवके, वीतराग सो होय ॥

श्वास—रक्तकी गतिप्रमाण समय, कि जो एक मिनटमें ८० बारसे कुछ अंश कम चलती है।

सागर—दो हजार कोस गहरे तथा इतने ही चौड़े गोलाकार गड्ढेको, कैंचीसे जिसके दो टुकड़े न हो सकें ऐसे, तथा एकसे सात दिनकी उम्रके उत्तम भोगभूमिके मेंढेके बालोंसे भर दिया जाये। फिर उसमेंसे सौ-सौ वर्षके अंतरसे एक बाल निकाला जाये। जितने कालमें उन सब बालोंको निकाल दिया जाये उसे "व्यवहारपल्य" कहते हैं; व्यवहारपल्यसे असंख्यातगुने समयको "उद्धारपल्य" और उद्धारपल्यसे असंख्यातगुने कालको "अद्धापल्य" कहते हैं। दस कोड़ाकोड़ी (१० करोड़ × १० करोड़) अद्धापल्योंका एक सागर होता है।

संज्ञी—शिक्षा तथा उपदेश ग्रहण कर सकनेकी शक्तिवाले मनसहित प्राणी।

स्थावर—थावर नामकर्मके उदय सहित पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु तथा वनस्पतिकायिक जीव।

अन्तर-प्रदर्शन

(१) त्रस जीवोंको त्रस नामकर्मका उदय होता है, परन्तु स्थावर जीवोंको स्थावर नामकर्मका उदय होता है।—दोनोंमें यह अन्तर है।

नोटः—त्रस और स्थावरोंमें, चल सकने हैं और नहीं चल सकते—इस अपेक्षासे अन्तर बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे गमन रहित अयोगीकेवलीमें स्थावरका लक्षण तथा गमन सहित पवन आदि एकेन्द्रिय जीवोंमें त्रसका लक्षण मिलनेसे अति-व्याप्तिदोष आता है।

(२) साधारणके आश्रयसे अनन्त जीव रहते हैं किन्तु प्रत्येकके आश्रयसे एक ही जीव रहता है।

(३) संज्ञी तो शिक्षा और उपदेश ग्रहण कर सकता है किंतु असंज्ञी नहीं।

नोटः—किन्हींका भी अन्तर बतलानेके लिये सर्वत्र इस शैलीका अनुकरण करना चाहिये; मात्र लक्षण बतलानेसे अन्तर नहीं निकलता।

पहली ढालकी प्रश्नावली

(१) असंज्ञी, ऊर्ध्वलोक, एकेन्द्रिय, कर्म, गति, चतुरिन्द्रिय, त्रस, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अधोलोक, पंचेन्द्रिय, प्रत्येक, मध्यलोक, वीतराग, वैक्रियिक शरीर, साधारण और स्थावरके लक्षण बतलाओ।

(२) साधारण (निगोद) और प्रत्येकमें, त्रस और स्थावरमें, संज्ञी और असंज्ञीमें अन्तर बतलाओ।

(३) असंज्ञी तिर्यंच, त्रस, देव, निर्बल, निगोद, पशु, बाल्यावस्था, भवनत्रिक, मनुष्य, यौवन, वृद्धावस्था, वैमानिक, सबल, संज्ञी, स्थावर, नरकगति, नरकसम्बन्धी भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, भूमिस्पर्श तथा असुरकुमारोंके दुःख; अकाम निर्जराका फल, असुर-कुमारोंका कार्य तथा गमन; नारकीके शरीरकी विशेषता और अकाल-मृत्युका अभाव, मंदारमाला, वैतरणी तथा शीतसे लोहेके गोलेका गल जाना—इनका स्पष्ट वर्णन करो।

(४) अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण, भवनत्रिकमें उत्पन्न होना तथा स्वर्गोंमें दुःखका कारण बतलाओ।

(५) असुरकुमारोंका गमन, सम्पूर्ण जीवराशि, गर्भनिवासका समय, यौवनावस्था, नरककी आयु, निगोदवासका समय, निगोदियाकी

इन्द्रियाँ, निगोदियाकी आयु, निगोदमें एक श्वासमें जन्म-मरण तथा श्वासका परिमाण बतलाओ।

(६) त्रसपर्यायकी दुर्लभता १–२–३–४–५ इन्द्रिय जीव, तथा शीतसे लोहेका गोला गल जानेको दृष्टांत द्वारा समझाओ।

(७) बुरे परिणामोंसे प्राप्त होने योग्य गति, ग्रन्थरचयिता, जीव-कर्म सम्बन्ध. जीवोंकी इच्छित तथा अनिच्छित वस्तु, नमस्कृत वस्तु, नरककी नदी, नरकमें जानेवाले असुरकुमार, नारकीका शरीर, निगोदियाका शरीर, निगोदसे निकलकर प्राप्त होनेवाली पर्यायें, नौ महीनेसे कम समय तक गर्भमें रहनेवाले, मिथ्यात्वी वैमानिककी भविष्यकालीन पर्याय, माता–पिता रहित जीव, सर्वाधिक दुःखका स्थान. और संक्लेश परिणाम सहित मृत्यु होनेके कारण प्राप्त होने योग्य गतिका नाम बतलाओ।

(८) अपनी इच्छानुसार किसी शब्द, चरण अथवा छंदका अर्थ या भावार्थ कहो। पहली ढालका सारांश समझाओ, गतियोंके दुःखों पर एक लेख लिखो अथवा कहकर सुनाओ।

दूसरी ढाल

❋ पद्धरि छन्द १५ मात्रा ❋

संसार (चतुर्गति) में परिभ्रमणका कारण

ऐसे मिथ्या दृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान ॥१॥
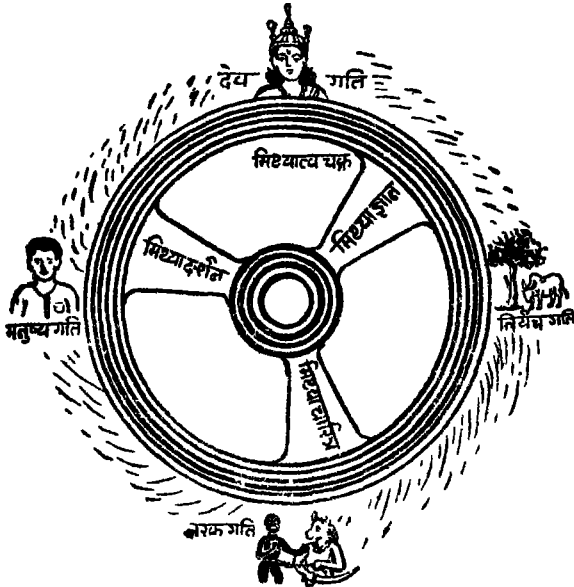
अन्वयार्थः—[यह जीव] (**मिथ्या दृग-ज्ञान-चर्णवश**) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके वश होकर (**ऐसे**) इस प्रकार (**जन्म-मरण**) जन्म और मरणके (**दुख**) दुःखोंको (**भरत**) भोगता हुआ [चारों गतियोंमें] (**भ्रमत**) भटकता फिरता है। (**तातैं**) इसलिये (**इनको**) इन तीनोंको (**सुजान**)

भली भाँति जानकर (तजिये) छोड़ देना चाहिये। [इसलिये] इन तीनोंका (संक्षेप) संक्षेपसे (कहूँ बखान) वर्णन करता हूँ उसे (सुन) सुनो।

भावार्थः—इस चरणसे ऐसा समझना चाहिये कि मिथ्या-दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे ही जीवको दुःख होता है अर्थात् शुभाशुभ रागादि विकार तथा परके साथ एकत्वकी श्रद्धा, ज्ञान और मिथ्या आचरणसे ही जीव दुखी होता है; क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःखका कारण नहीं हो सकता—ऐसा जानकर सुखार्थीको इन मिथ्याभावोंका त्याग करना चाहिये। इसीलिये मैं यहाँ संक्षेपसे उन तीनोंका वर्णन करता हूँ। १।

अगृहीत-मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्वका लक्षण

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(जीवादि) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (प्रयोजनभूत) प्रयोजनभूत (तत्त्व) तत्त्व हैं,

(**तिनमांहि**) उनमें (**विपर्ययत्व**) विपरीत (**सरधै**) श्रद्धा करना [सो अगृहीत मिथ्यादर्शन है।] (**चेतनको**) आत्माका (**रूप**) स्वरूप (**उपयोग**) देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है [और वह] (**विनमूरत**) अमूर्तिक (**चिन्मूरत**) चैतन्यमय [तथा] (**अनूप**) उपमारहित है।

भावार्थः—यथार्थरूपसे शुद्धात्मदृष्टि द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये इन सात तत्त्वोंको जानना आवश्यक है। सातों तत्त्वोंका विपरीत श्रद्धान करना उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है। अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमारहित है।

जीवतत्त्वके विषयमें मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा)

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान ॥३॥

अन्वयार्थः—(**पुद्गल**) पुद्गल (**नभ**) आकाश (**धर्म**) धर्म (**अधर्म**) अधर्म (**काल**) काल (**इनतैं**) इनसे (**जीव चाल**) जीव

का स्वभाव अथवा परिणाम (न्यारी) भिन्न (है) है; [तथापि मिथ्यादृष्टि जीव] (ताकों) उस स्वभावको (न जान) नहीं जानता और (विपरीत) विपरीत (मान करि) मानकर (देहमें) शरीरमें (निज) आत्माकी (पिछान) पहिचान (करे) करता है।

भावार्थः—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—यह पाँच अजीव द्रव्य हैं। जीव त्रिकाल ज्ञानस्वरूप तथा पुद्गलादि द्रव्योंसे पृथक् है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव आत्माके स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा न करके अज्ञानवश विपरीत मानकर, शरीर ही मैं हूँ, शरीरके कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीरकी व्यवस्था रख सकता हूँ—ऐसा मानकर शरीरको ही आत्मा मानता है। [यह जीवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।] । ३ ।

मिथ्यादृष्टिका शरीर तथा परवस्तुओं सम्बन्धी विचार

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण ॥ ४ ॥
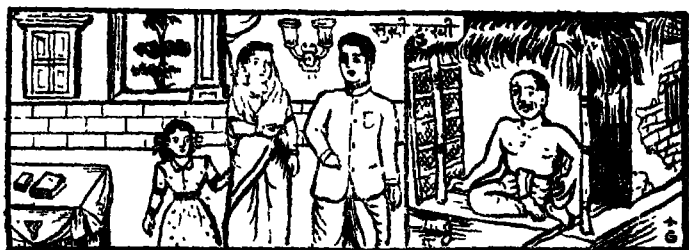
अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शनके कारणसे मानता है कि] (मैं) मैं (सुखी) सुखी (दुखी) दुःखी, (रंक) निर्धन, (राव) राजा हूँ, (मेरे) मेरे यहाँ (धन) रुपया-पैसा आदि (गृह) घर (गोधन) गाय, भैंस आदि (प्रभाव) बड़प्पन

[है; और] (मेरे सुत) मेरी संतान तथा (तिय) मेरी स्त्री है; (मैं) मैं (सबल) बलवान, (दीन) निर्बल, (बेरूप) कुरूप, (सुभग) सुन्दर, (मूरख) मूर्ख और (प्रवीण) चतुर हूँ।

भावार्थः—(१) जीवतत्त्वकी भूलः—जीव तो त्रिकाल ज्ञान-स्वरूप है, उसे अज्ञानी जीव नहीं जानता और जो शरीर है सो मैं ही हूँ, शरीरके कार्य मैं कर सकता हूँ, शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ हो, बाह्य अनुकूल संयोगोंसे मैं सुखी और प्रतिकूल संयोगोंसे मैं दुःखी, मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप, मैं सुन्दर—ऐसा मानता है; शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादि क्रियाओंमें अपनत्व मानता है—इत्यादि* मिथ्या अभिप्राय द्वारा जो अपने परिणाम नहीं हैं उन्हें आत्माका परिणाम मानता है वह जीवतत्त्वकी भूल है।

अजीव और आस्रवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥ ५ ॥
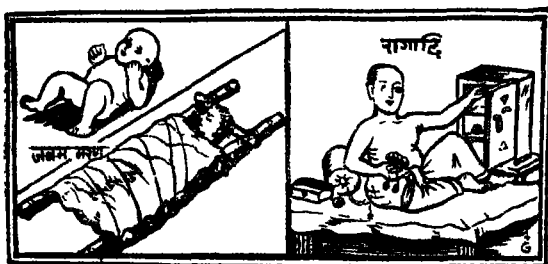
* जो शरीरादि पदार्थ दिखाई देते हैं वे आत्मासे भिन्न हैं; उनके ठीक रहने या बिगड़नेसे आत्माका कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं होता; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इससे विपरीत मानता है।

अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव] (**तन**) शरीरके (**उपजत**) उत्पन्न होनेसे (**अपनो**) अपना आत्मा (**उपज**) उत्पन्न हुआ (**जान**) ऐसा मानता है और (**तन**) शरीरके (**नशत**) नाश होनेसे (**आपको**) आत्माका (**नाश**) मरण हुआ ऐसा (**मान**) मानता है। (**रागादि**) राग, द्वेष, मोहादि (**ये**) जो (**प्रगट**) स्पष्ट रूपसे (**दुःख देन**) दुःख देने वाले हैं (**तिनहीको**) उनकी (**सेवत**) सेवा करता हुआ (**चैन**) सुख (**गिनत**) मानता है।

भावार्थः—(१) अजीवतत्त्वकी भूलः—मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीरकी उत्पत्ति (संयोग) होनेसे मैं उत्पन्न हुआ और शरीरका नाश (वियोग) होनेसे मैं मर जाऊँगा, (आत्माका मरण मानता है;) धन, शरीरादि जड़ पदार्थोंमें परिवर्तन होनेसे अपनेमें इष्ट-अनिष्ट परिवर्तन मानना, शरीरमें क्षुधा-तृषारूप अवस्था होनेसे मुझे क्षुधा-तृषादि होते हैं; शरीर कटनेसे मैं कट गया—इत्यादि जो अजीवकी अवस्थाएँ हैं उन्हें अपनी मानता है यह अजीवतत्त्वकी भूल है* ।

(२) आस्रवतत्त्वकी भूलः—जीव अथवा अजीव कोई भी पर पदार्थ आत्माको किंचित् भी सुख-दुःख, सुधार-बिगाड़, इष्ट-अनिष्ट नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। परमें कर्तृत्व, ममत्वरूप मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि शुभाशुभ आस्रवभाव प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं, बंधके ही कारण हैं, तथापि अज्ञानी जीव उन्हें सुखकर जानकर सेवन करता है। और शुभभाव भी बन्धका ही कारण है—आस्रव है, उसे हितकर मानता है। परद्रव्य जीवको लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तथापि उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें

* आत्मा अमर है; वह विष, अग्नि, शस्त्र, अस्त्र अथवा अन्य किसीसे नहीं मरता और न नवीन उत्पन्न होता है। मरण (वियोग) तो मात्र शरीरका ही होता है।

प्रीति-अप्रीति करता है; मिथ्यात्व, राग-द्वेषका स्वरूप नहीं जानता; पर पदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं अथवा राग-द्वेष-मोह कराते हैं —ऐसा मानता है वह आस्रवतत्त्वकी भूल है।

बन्ध और संवरतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा

शुभ-अशुभ बंधके फल मंझार, रति-अरति करै निजपद विसार;
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान ॥ ६ ॥
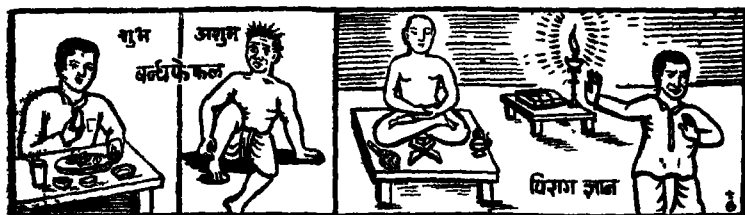
अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव] (निजपद) आत्माके स्वरूपको (विसार) भूलकर (बंधके) कर्मबन्धके (शुभ) अच्छे (फल मंझार) फलमें (रति) प्रेम (करै) करता है, और कर्मबन्धके (अशुभ) बुरे फलसे (अरति) द्वेष करता है; तथा जो (विराग) राग–द्वेषका अभाव [अर्थात् अपने यथार्थ स्वभावमें स्थिरतारूप* सम्यक्चारित्र] और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान [और सम्यग्दर्शन] (आतमहित) आत्माके हितके (हेतु) कारण हैं (ते) उन्हें (आपको) आत्माको (कष्टदान) दुःख देनेवाले (लखै) मानता है।

भावार्थः—(१) बन्धतत्वकी भूलः—अघातिकर्मके फलअनुसार पदार्थोंकी संयोग–वियोगरूप अवस्थाएँ होती हैं। मिथ्यादृष्टि जीव

* अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ही आत्माका सच्चा स्वरूप है।

उन्हें अनुकूल–प्रतिकूल मानकर उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ ऐसी कल्पना द्वारा राग–द्वेष, आकुलता करता है। धन, योग्य स्त्री, पुत्रादिका संयोग होनेसे रति करता है; रोग, निंदा, निर्धनता, पुत्र-वियोगादि होनेसे अरति करता है; पुण्य–पाप दोनों बन्धनकर्ता हैं, किन्तु ऐसा न मानकर पुण्यको हितकारी मानता है; तत्त्वदृष्टिसे तो पुण्य–पाप दोनों अहितकर ही हैं; परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धाररूप नहीं मानता—यह बन्धतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) संवरतत्त्वकी भूलः—निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र ही जीवको हितकारी हैं; स्वरूपमें स्थिरता द्वारा रागका जितना अभाव वह वैराग्य है, और वह सुखके कारणरूप है; तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है—यह संवरतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

निर्जरा और मोक्षकी विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीतमिथ्याज्ञान

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ॥७॥
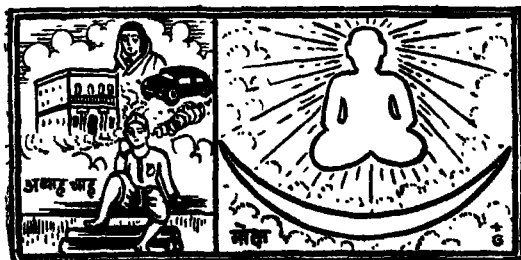
अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव] (निजशक्ति) अपने आत्माकी शक्ति (खोय) खोकर (चाह) इच्छाको (न रोके) नहीं रोकता,

और (निराकुलता) आकुलताके अभावको (शिवरूप) मोक्षका स्वरूप (न जोय) नहीं मानता। (याही) इस (प्रतीतिजुत) मिथ्या मान्यता सहित (कछुक ज्ञान) जो कुछ ज्ञान है (सो) वह (दुखदायक) कष्ट देनेवाला (अज्ञान) अगृहीत मिथ्याज्ञान है ऐसा (जान) समझना चाहिये।

भावार्थः—निर्जरातत्त्वमें भूलः—आत्मामें आंशिक शुद्धिकी वृद्धि तथा अशुद्धिकी हानि होना उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है; वह निश्चयसम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। ज्ञानानन्दस्वरूपमें स्थिर होनेसे शुभ–अशुभ इच्छाका निरोध होता है वह तप है। तप दो प्रकारका है : (१) बालतप (२) सम्यक्तप; अज्ञानदशामें जो तप किया जाता है वह बालतप है, उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती; किन्तु आत्मस्वरूपमें सम्यक्प्रकारसे स्थिरता-अनुसार जितना शुभ–अशुभ इच्छाका अभाव होता है वह सच्ची निर्जरा है—सम्यक्-तप है; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता। अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्तिको भूलकर पराश्रयमें सुख मानता है, शुभाशुभ इच्छा तथा पांच इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहको नहीं रोकता—यह निर्जरा-तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) मोक्षतत्त्वकी भूलः—पूर्ण निराकुल आत्मिकसुखकी प्राप्ति अर्थात जीवकी सम्पूर्ण शुद्धता वह मोक्षका स्वरूप है तथा वही सच्चा सुख है; किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

मोक्ष होने पर तेजमें तेज मिल जाता है, अथवा वहाँ शरीर इन्द्रियाँ तथा विषयोंके बिना सुख कैसे हो सकता है? वहाँसे

पुनः अवतार धारण करना पड़ता है—इत्यादि। इस प्रकार मोक्ष-दशामें निराकुलता नहीं मानता वह मोक्षतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(३) अज्ञानः—अगृहीत मिथ्यादर्शनके रहते हुए जो कुछ ज्ञान हो उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं; वह महान् दुःखदाता है। उपदेशादि बाह्य निमित्तोंके आलम्बन द्वारा उसे नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अनादिकालीन है, इसलिये उसे अगृहीत (स्वाभाविक-निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं। ७।

अगृहीत मिथ्याचारित्र (कुचारित्र) का लक्षण

इन जुत विषयनिमें जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत, सुनिये सु तेह।।८।।

अन्वयार्थः—(**जो**) जो (**विषयनिमें**) पाँच इन्द्रियोंके विषयों-में (**इन जुत**) अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित (**प्रवृत्त**) प्रवृत्ति करता है (**ताको**) उसे (**मिथ्याचरित्त**) अगृहीत मिथ्याचारित्र (**जानो**) समझो। (**यों**) इस प्रकार (**निसर्ग**) अगृहीत (**मिथ्यात्वादि**) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका [वर्णन किया गया] (**अब**) अब (**जे**) जो (**गृहीत**) गृहीत [मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र] है (**तेह**) उसे (**सुनिये**) सुनो।

भावार्थः—अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित पाँच इन्द्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति करना उसे अगृहीत मिथ्या-

चारित्र कहा जाता है। इन तीनोंको दुःखका कारण जानकर तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिये । ८ ।

गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरुके लक्षण

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव;
अंतर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बरतैं सनेह ॥९॥

गाथा १० (पूर्वार्द्ध)

धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव;

अन्वयार्थः—(**जो**) जो (**कुगुरु**) मिथ्या गुरुकी (**कुदेव**) मिथ्या देवकी और (**कुधर्म**) मिथ्या धर्मकी (**सेव**) सेवा करता है, वह (**चिर**) अति दीर्घकाल तक (**दर्शनमोह**) मिथ्यादर्शन (**एव**) ही (**पोषैं**) पोषता है। (**जेह**) जो (**अंतर**) अंतरमें (**रागादिक**) मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि (**धरैं**) धारणा करता है और (**बाहर**) बाह्यमें (**धन अम्बरतैं**) धन तथा वस्त्रादिसे (**सनेह**) प्रेम रखता है, तथा (**महत भाव**) महात्मापनेका भाव (**लहि**) ग्रहण करके (**कुलिंग**) मिथ्यावेषोंको (**धारैं**) धारण करता है वह (**कुगुरु**) कुगुरु कहलाता है और वह कुगुरु (**जन्मजल**) संसाररूपी समुद्रमें (**उपलनाव**) पत्थरकी नौका समान है।

भावार्थः—कुगुरु, कुदेव और कुधर्मकी सेवा करनेसे दीर्घकाल तक मिथ्यात्वका ही पोषण होता है अर्थात् कुगुरु, कुदेव और कुधर्मका सेवन ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

परिग्रह दो प्रकारका है; एक अंतरंग और दूसरा बहिरंग; मिथ्यात्व, राग–द्वेषादि अंतरंग परिग्रह है और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि बहिरंग परिग्रह हैं। वस्त्रादि सहित होने पर भी अपनेको जिनलिंगधारी मानते हैं वे कुगुरु हैं। "**जिनमार्गमें तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं। एक तो जिनस्वरूप–निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवीं–ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकलिंग और तीसरा आर्यिकाओंका रूप–यह स्त्रियोंका लिंग,–इन तीनके अतिरिक्त कोई चौथा लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है;** इसलिये इन तीनके अतिरिक्त अन्य लिंगोंको जो मानता है उसे जिनमतकी श्रद्धा नहीं है, किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है। (दर्शनपाहुड गाथा १८)" इसलिये जो कुलिंगके धारक हैं, मिथ्यात्वादि अंतरंग तथा वस्त्रादि बहिरंग परिग्रह सहित हैं, अपनेको मुनि मानते हैं, मनाते हैं वे कुगुरु हैं। जिसप्रकार पत्थरकी नौका डूब जाती है तथा उसमें बैठनेवाले भी डूबते हैं; उसी प्रकार कुगुरु भी स्वयं संसार-समुद्रमें डूबते हैं और उनकी वंदना तथा सेवा-भक्ति करनेवाले भी अनंत संसारमें डूबते हैं अर्थात् कुगुरुकी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय तथा अनुमोदना करनेसे गृहीत मिथ्यात्वका सेवन होता है और उससे जीव अनंतकाल तक भव-भ्रमण करता है। ९।

गाथा १० (उत्तरार्द्ध)

कुदेव (मिथ्यादेव) का स्वरूप

जो राग-द्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन ॥१०॥

गाथा ११ (पूर्वार्ध)

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव;

अन्वयार्थः—(जे) जो (राग-द्वेषमलकरि मलीन) रागद्वेषरूपी मैलसे मलिन हैं और (वनिता) स्त्री (गदादि जुत) गदा आदि सहित (चिह्न चीन) चिन्होंसे पहिचाने जाते हैं (ते) वे (कुदेव) झूठे देव हैं, (तिनकी) उन कुदेवोंकी (जु) जो (शठ) मूर्ख (सेव करत) सेवा करते हैं, (तिन) उनका (भवभ्रमण) संसार-में भ्रमण करना (न छेव) नहीं मिटता।

भावार्थः—जो राग और द्वेषरूपी मैलसे मलिन (रागी–द्वेषी) हैं और स्त्री, गदा, आभूषण आदि चिह्नोंसे जिनको पहिचाना जा सकता है वे 'कुदेव' * कहे जाते हैं। जो अज्ञानी ऐसे कुदेवोंकी सेवा (पूजा, भक्ति और विनय) करते हैं वे इस संसारका अन्त नहीं कर सकते अर्थात् अनन्तकाल तक उनका भवभ्रमण नहीं मिटता। १०।

गाथा ११ (उत्तरार्ध)

कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शनका संक्षिप्त लक्षण

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत ॥ ११ ॥

---

* सुदेव—अरिहंत परमेष्ठी; देव—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक, कुदेव—हरि, हर शीतलादि; अदेव—पीपल, तुलसी, लकड़बाबा आदि कल्पितदेव, जो कोई भी सरागी देव-देवी हैं वे वन्दन–पूजनके योग्य नहीं हैं।

जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ॥१२॥

अन्वयार्थः—(रागादि भावहिंसा) राग-द्वेष आदि भावहिंसा (समेत) सहित तथा (त्रस-थावर) त्रस और स्थावर (मरण खेत) मरणका स्थान (दवित) द्रव्यहिंसा (समेत) सहित (जे) जो (क्रिया) क्रियाएँ [हैं] (तिन्हैं) उन्हें (कुधर्म) मिथ्याधर्म (जानहु) जानना चाहिये। (तिन) उनकी (सरधैं) श्रद्धा करनेसे (जीव) आत्मा—प्राणी (लहै अशर्म) दुःख पाते हैं। (याकूं) इस कुगुरु, कुदेव और कुधर्मका श्रद्धान करनेको (गृहीत मिथ्यात्व) गृहीत मिथ्यादर्शन जानना, (अब गृहीत) अब गृहीत (अज्ञान) मिथ्याज्ञान (जो है) जिसे कहा जाता है उसका वर्णन (सुन) सुनो।

भावार्थः—जिस धर्ममें मिथ्यात्व तथा रागादिरूप भावहिंसा और त्रस तथा स्थावर जीवोंके घातरूप द्रव्यहिंसाको धर्म माना जाता है उसे कुधर्म कहते हैं। जो जीव उस कुधर्मकी श्रद्धा करता है वह दुःख प्राप्त करता है। ऐसे मिथ्या गुरु, देव और धर्मकी श्रद्धा करना उसे "गृहीत मिथ्यादर्शन" कहते हैं। वह परोपदेश आदि

कारणके आश्रयसे ग्रहण किया जाता है इसलिये "गृहीत" कहलाता है। अब गृहीत मिथ्याज्ञानका वर्णन किया जाता है।

गृहीत मिथ्याज्ञानका लक्षण

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
रागी कुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास। १३।

अन्वयार्थः—(एकान्तवाद) एकान्तरूप कथनसे (दूषित) मिथ्या [और] (विषयादिक) पाँच इन्द्रियोंके विषय आदिकी (पोषक) पुष्टि करनेवाले (रागीकुमतनिकृत) रागी कुमति आदिके रचे हुए (अप्रशस्त) मिथ्या (समस्त) समस्त (श्रुताभ्यास) शास्त्रों-को (अभ्यास) पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना (सो) वह (कुबोध) मिथ्याज्ञान [है; वह] (बहु) बहुत (त्रास) दुःखको (देन) देनेवाला है।

भावार्थः—(१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है; उसमेंसे किसी भी एक ही धर्मको पूर्ण वस्तु कहनेके कारणसे दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादिकी पुष्टि करनेवाले कुगुरुओंके रचे हुए सर्व प्रकारके मिथ्या शास्त्रोंको धर्मबुद्धिसे लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।

(२) जो शास्त्र जगतमें सर्वथा नित्य, एक, अद्वैत और सर्वव्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है—ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवादसे दूषित होनेके कारण कुशास्त्र है।

(३) वस्तुको सर्वथा क्षणिक–अनित्य बतलायें, अथवा (४) गुण–गुणी सर्वथा भिन्न हैं, किसी गुणके संयोगसे वस्तु है ऐसा कथन करें, अथवा (५) जगतका कोई कर्ता–हर्ता तथा नियंता है ऐसा वर्णन करें, अथवा (६) दया, दान, महाव्रतादिक शुभ राग–जो कि पुण्यास्रव है, पराश्रय है उससे, तथा साधुको आहार देनेके शुभभावसे संसार परित (अल्प, मर्यादित) होना बतलायें तथा उपदेश देनेके शुभभावसे परमार्थरूप धर्म होता है—इत्यादि अन्य धर्मियोंके ग्रंथोंमें जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होनेके कारण कुशास्त्र हैं; क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वोंकी यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्वकी भूल हो वहाँ सातों तत्त्वकी भूल होती ही है ऐसा समझना चाहिये।

गृहीत मिथ्याचारित्रका लक्षण

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह;
आतम अनातमके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥१४॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (ख्याति) प्रसिद्धि (लाभ) लाभ तथा (पूजादि) मान्यता और आदर–सन्मान आदिकी (चाह धरि) इच्छा करके (देहदाह) शरीरको कष्ट देनेवाली (आतम अनात्मके) आत्मा और परवस्तुओंके (ज्ञानहीन) भेदज्ञानसे रहित (तन) शरीरको (छीन) क्षीण (करन) करनेवाली (विविध विध) अनेक प्रकारकी

(जे जे करनी) जो-जो क्रियाएँ हैं वे सब (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्र हैं।

भावार्थः—शरीर और आत्माका भेदविज्ञान न होनेसे जो यश, धन-सम्पत्ति, आदर-सत्कार आदिकी इच्छासे मानादि कषायके वशीभूत होकर शरीरको क्षीण करनेवाली अनेक प्रकारकी क्रियाएँ करता है उसे "गृहीत मिथ्याचारित्र" कहते हैं।

मिथ्याचारित्रके त्यागका तथा आत्महितमें लगनेका उपदेश

वे सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हित पंथ लाग;
जगजाल-भ्रमणको देहु त्याग, अब दौलत ! निज आतम सुपाग।१५।

अन्वयार्थः—(ते) उस (सब) समस्त (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्रको (त्याग) छोड़कर (अब) अब (आतमके) आत्माके (हित) कल्याणके (पंथ) मार्गमें (लाग) लग जाओ, (जगजाल) संसाररूपी जालमें (भ्रमणको) भटकना (देहु त्याग) छोड़ दो, (दौलत) हे दौलतराम! (निज आतम) अपने आत्मामें (अब) अब (सुपाग) भलीभाँति लीन हो जाओ।

भावार्थः—आत्महितैषी जीवको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रका त्याग करके आत्मकल्याणके मार्गमें लगना चाहिये। श्री पण्डित दौलतरामजी अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते हैं कि—हे आत्मन्! पराश्रयरूप संसार अर्थात् पुण्य-पापमें भटकना छोड़कर सावधानीसे आत्मस्वरूपमें लीन हो।

दूसरी ढालका सारांश

(१) यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके वश होकर चार गतियोंमें परिभ्रमण करके प्रतिसमय अनन्त दुःख भोग रहा है। जबतक देहादिसे भिन्न अपने आत्माकी सच्ची प्रतीति तथा रागादिका अभाव न करे तबतक सुख-शान्ति और आत्माका उद्धार नहीं हो सकता।

(२) आत्महितके लिये (सुखी होनेके लिये) प्रथम (१) सच्चे देव, गुरु और धर्मकी यथार्थ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति, (३) स्व-परके स्वरूपकी श्रद्धा, (४) निज शुद्धात्माके

प्रतिभासरूप आत्माकी श्रद्धा,—इन चार लक्षणोंके अविनाभावसहित सत्य श्रद्धा (निश्चय सम्यग्दर्शन) जबतक जीव प्रगट न करे तबतक जीव (आत्मा)का उद्धार नहीं हो सकता अर्थात् धर्मका प्रारम्भ भी नहीं हो सकता; और तबतक आत्माको अंशमात्र भी सुख प्रगट नहीं होता।

(३) सात तत्त्वोंकी मिथ्याश्रद्धा करना उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। अपने स्वतंत्र स्वरूपकी भूलका कारण आत्मस्वरूपमें विपरीत श्रद्धा होनेसे ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा पुण्य–पाप–रागादि मलिनभावोंमें एकताबुद्धि–कर्ताबुद्धि है; और इसलिये शुभराग तथा पुण्य हितकर है, शरीरादि परपदार्थोंकी अवस्था (क्रिया) मैं कर सकता हूँ, पर मुझे लाभ–हानि कर सकता है, तथा मैं परका कुछ कर सकता हूँ;—ऐसी मान्यताके कारण उसे सत्–असत्का विवेक होता ही नहीं। सच्चा सुख तथा हितरूप श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र अपने आत्माके ही आश्रयसे होते हैं इस बातकी भी उसे खबर नहीं होती।

(४) पुनश्च, कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र और कुधर्मकी श्रद्धा, पूजा, सेवा तथा विनय करनेकी जो–जो प्रवृत्ति है वह अपने मिथ्यात्वादि महान दोषोंको पोषण देनेवाली होनेसे दुःखदायक है, अनन्त संसार-भ्रमणका कारण है। जो जीव उसका सेवन करता है, उसे कर्तव्य समझता है वह दुर्लभ मनुष्य-जीवनको नष्ट करता है।

(५) अगृहीत मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र जीवको अनादिकालसे होते हैं, फिर वह मनुष्य होनेके पश्चात् कुशास्त्रका अभ्यास

करके अथवा कुगुरुका उपदेश स्वीकार करके गृहीत मिथ्याज्ञान–मिथ्याश्रद्धा धारण करता है; तथा कुमतका अनुसरण करके मिथ्याक्रिया करता है; वह गृहीत मिथ्याचारित्र है। इसलिये जीवको भलीभाँति सावधान होकर गृहीत तथा अगृहीत—दोनों प्रकारके मिथ्याभाव छोड़ने योग्य हैं; तथा उनका यथार्थ निर्णय करके निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। मिथ्याभावोंका सेवन कर–करके, संसारमें भटककर, अनन्त जन्म धारण करके अनन्तकाल गँवा दिया; इसलिये अब सावधान होकर आत्मोद्धार करना चाहिये।

दूसरी ढालका भेद-संग्रह

इन्द्रियविषयः—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द।

तत्त्वः—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

द्रव्यः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

मिथ्यादर्शनः—गृहीत, अगृहीत।

मिथ्याज्ञानः—गृहीत (बाह्यकारणप्राप्त), अगृहीत (निसर्गज)।

मिथ्याचारित्रः—गृहीत और अगृहीत।

महादुःखः—स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान; मिथ्यात्व।

विमानवासीः—कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

दूसरी ढालका लक्षण-संग्रह

अनेकान्तः—प्रत्येक वस्तुमें वस्तुपनेको प्रमाणित–निश्चित करनेवाली

अस्तित्व–नास्तित्व आदि परस्पर–विरुद्ध दो शक्तियोंका एकसाथ प्रकाशित होना। (आत्मा सदैव स्व-रूपसे है और पर-रूपसे नहीं है, ऐसी जो दृष्टि वह अनेकान्तदृष्टि है)।

अमूर्तिकः—रूप, रस, गंध और स्पर्शरहित वस्तु।

आत्माः—जानने–देखने अथवा ज्ञान–दर्शन शक्तिवाली वस्तुको आत्मा कहा जाता है। जो सदा जाने और जानने रूप परिणमित हो उसे जीव अथवा आत्मा कहते हैं।

उपयोगः—जीवकी ज्ञान–दर्शन अथवा जानने–देखनेकी शक्तिका व्यापार।

एकान्तवादः—अनेक धर्मोंकी सत्ताकी अपेक्षा न रखकर वस्तुका एक ही रूपसे निरूपण करना।

दर्शनमोहः—आत्माके स्वरूपकी विपरीत श्रद्धा।

द्रव्यहिंसाः—त्रस और स्थावर प्राणियोंका घात करना।

*__भावहिंसाः__—मिथ्यात्व तथा राग–द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्ति।

मिथ्यादर्शनः—जीवादि तत्त्वोंकी विपरीत श्रद्धा।

---

* अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥ (पुरु. सि.)

अर्थः—वास्तवमें रागादि भावोंका प्रगट न होना सो अहिंसा है, और रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है—ऐसा जैन-शास्त्रका संक्षिप्त रहस्य है।

मूर्तिक:—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसहित वस्तु।

अन्तर-प्रदर्शन

(१) आत्मा और जीवमें कोई अन्तर नहीं है, पर्यायवाचक शब्द हैं।

(२) अगृहीत (निसर्गज) तो उपदेशादिकके निमित्त बिना होता है, परन्तु गृहीतमें उपदेशादि निमित्त होते हैं।

(३) मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शनमें कोई अन्तर नहीं है; मात्र दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।

(४) सुगुरुमें मिथ्यात्वादि दोष नहीं होते किन्तु कुगुरुमें होते हैं। विद्यागुरु तो सुगुरु और कुगुरुसे भिन्न व्यक्ति हैं। मोक्ष-मार्गके प्रसंगमें तो मोक्षमार्गके प्रदर्शक सुगुरुसे तात्पर्य है।

दूसरी ढालकी प्रश्नावली

(१) अगृहीत-मिथ्याचारित्र, अगृहीत-मिथ्याज्ञान, अगृहीत–मिथ्या-दर्शन, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म, गृहीत-मिथ्यादर्शन, गृहीत-मिथ्या-ज्ञान, गृहीत-मिथ्याचारित्र, जीवादि छह द्रव्य—इन सबका लक्षण बतलाओ।

(२) मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शनमें, अगृहीत और गृहीतमें, आत्मा और जीवमें तथा सुगुरु, कुगुरु और विद्यागुरुमें क्या अन्तर है वह बतलाओ।

(३) अगृहीतका नामान्तर, आत्महितका मार्ग, एकेन्द्रियको ज्ञान न माननेसे हानि, कुदेवादिकी सेवासे हानि; दूसरी ढालमें कही

हुई वास्तविकता, मृत्युकालमें जीव निकलते हुए दिखाई नहीं देता उसका कारण, मिथ्यादृष्टिकी रुचि, मिथ्यादृष्टिकी अरुचि, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रकी सत्ताका काल; मिथ्यादृष्टिको दुःख देनेवाली वस्तु, मिथ्या-धार्मिक कार्य करने-कराने वा उसमें सम्मत होनेसे हानि तथा सात तत्त्वोंकी विपरीत श्रद्धाके प्रकारादिका स्पष्ट वर्णन करो।

(४) आत्महित, आत्मशक्तिका विस्मरण, गृहीत मिथ्यात्व, जीवतत्त्वकी पहिचान न होनेमें किसका दोष है, तत्त्वका प्रयोजन, दुःख, मोक्षसुखकी अप्राप्ति और संसार-परिभ्रमणके कारण दर्शाओ।

(५) मिथ्यादृष्टिका आत्मा, जन्म और मरण, कष्टदायक वस्तु आदि सम्बन्धी विचार प्रगट करो।

(६) कुगुरु, कुदेव और मिथ्याचारित्र आदिके दृष्टान्त दो। आत्महित-रूप धर्मके लिये प्रथम व्यवहार या निश्चय?

(७) कुगुरु तथा कुधर्मका सेवन और रागादिभाव आदिका फल बतलाओ। मिथ्यात्व पर एक लेख लिखो। अनेकान्त क्या है? राग तो बाधक ही है, तथापि व्यवहार मोक्षमार्गको (शुभरागका) निश्चयका हेतु क्यों कहा है?

(८) अमुक शब्द, चरण अथवा छन्दका अर्थ और भावार्थ बतलाओ। दूसरी ढालका सारांश समझाओ।

तीसरी ढाल

नरेन्द्र छन्द (जोगीरासा)

आत्महित, सच्चा सुख तथा दो प्रकारसे मोक्षमार्गका कथन

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये;
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो ॥ १ ॥
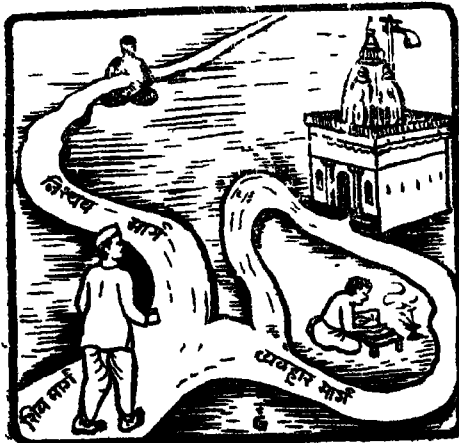
अन्वयार्थः—(आतमको) आत्माका (हित) कल्याण (है) है (सुख) सुखकी प्राप्ति, (सो सुख) वह सुख (आकुलता बिन) आकुलता रहित (कहिये) कहा जाता है। (आकुलता) आकुलता (शिवमांहि) मोक्षमें (न) नहीं है (तातैं) इसलिये (शिवमग) मोक्षमार्गमें (लाग्यो) लगाना (चहिये) चाहिये। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोंकी एकता वह (शिवमग) मोक्षका मार्ग है। (सो) उस मोक्षमार्गका (द्विविध) दो प्रकारसे (विचारो) विचार करना चाहिये कि (जो) जो (सत्यारथरूप) वास्तविक स्वरूप है (सो) वह (निश्चय) निश्चय-मोक्षमार्ग है और (कारण) जो निश्चय-मोक्षमार्गका निमित्तकारण है (सो) उसे (व्यवहारो) व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं।

भावार्थः—(१) सम्यक्चारित्र निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही होता है। जीवको निश्चयसम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यक्भावश्रुत-ज्ञान होता है। और निश्चयनय तथा व्यवहारनय यह दोनों सम्यक् श्रुतज्ञानके अवयव (अंश) हैं; इसलिये मिथ्यादृष्टिको निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकते; इसलिये "व्यवहार प्रथम होता है और निश्चयनय बादमें प्रगट होता है"—ऐसा माननेवालेको नयोंके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है।

(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते। निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होनेसे पूर्व यदि व्यवहारनय हो तो निश्चयनयकी अपेक्षा रहित निरपेक्षनय हुआ; और यदि पहले अकेला व्यवहारनय हो तो अज्ञानदशामें सम्यग्नय मानना पड़ेगा; किंतु "निरपेक्षानयाः मिथ्या सापेक्षावस्तु तेऽर्थकृत" (आप्तमीमांसा श्लोक–१०८) ऐसा आगमका वचन है; इसलिये अज्ञानदशामें किसी जीवको

व्यवहारनय नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहाराभास अथवा निश्चया-भासरूप मिथ्यानय हो सकता है।

(३) जीव निज ज्ञायकस्वभावके आश्रय द्वारा निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रगट करे तब सर्वज्ञकथित नव तत्त्व, सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा सम्बन्धी रागमिश्रित विचार तथा मन्दकषायरूप शुभभाव–जो कि उस जीवको पूर्वकालमें था उसे भूतनैगमनयसे व्यवहारकारण कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश, अ. २ गाथा १४ की टीका)। तथा उसी जीवको निश्चयसम्यग्दर्शनकी भूमिकामें शुभराग और निमित्त किस प्रकारके होते हैं, उनका सहचरपना बतलानेके लिये वर्तमान शुभरागको व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है, ऐसा कहनेका कारण यह है कि उससे भिन्न प्रकारके (विरुद्ध) निमित्त उस दशामें किसीको हो नहीं सकते।–इस प्रकार निमित्त-व्यवहार होता है तथापि वह यथार्थ कारण नहीं है।

(४) आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है, इसलिये आत्माके आश्रयसे ही सुख प्रगट हो सकता है, किन्तु किसी निमित्त या व्यवहारके आश्रयसे सुख प्रगट नहीं हो सकता।

(५) मोक्षमार्ग तो एक ही है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप है। (प्रवचनसार गाथा ८२–१९९ तथा मोक्ष-मार्ग प्रकाशक देहली, पृष्ठ ४६२)

(६) अब, "मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकारसे है। जहाँ मोक्षमार्गके रूपमें सच्चे मोक्ष-मार्गकी प्ररूपणा की है वह निश्चयमोक्षमार्ग है; तथा जहाँ, जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किंतु मोक्षमार्गका निमित्त है अथवा सहचारी है वहाँ उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहें तो वह व्यवहारमोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चय–व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है, अर्थात् यथार्थ निरूपण वह निश्चय और उपचार निरूपण वह व्यवहार है

इसलिये निरूपणकी अपेक्षासे दो प्रकारका मोक्षमार्ग जानना। किन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३६५-३६६)

निश्चयसम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रका स्वरूप

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है;
आपरूपको जानपनों, सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित सोई;
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई॥ २॥
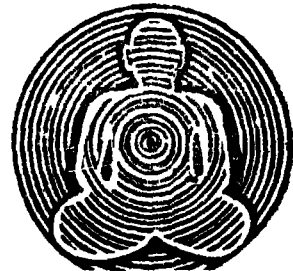
निश्चय सम्यक्चारित्र

अन्वयार्थः—(आपमें) आत्मामें (परद्रव्यनतैं) परवस्तुओंसे (भिन्न) भिन्नत्वकी (रुचि) श्रद्धा करना सो (भला) निश्चय (सम्यक्त्व) सम्यग्दर्शन है; (आपरूपको) आत्माके स्वरूपको (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्योंसे भिन्न (जानपनों) जानना (सो) वह (सम्यग्ज्ञान) निश्चय सम्यग्ज्ञान (कला) प्रकाश (है) है। (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्योंसे भिन्न ऐसे (आपरूपमें) आत्मस्वरूपमें (थिर) स्थिरतापूर्वक (लीन रहे) लीन होना सो (सम्यक्चारित) निश्चय सम्यक्चारित्र (सोई) है। (अब) अब

(व्यवहार मोक्षमग) व्यवहार-मोक्षमार्ग (सुनिये) सुनो कि जो व्यवहारमोक्षमार्ग (नियतको) निश्चय-मोक्षमार्गका (हेतु) निमित्त-कारण (होई) है।

भावार्थः—पर पदार्थोंसे त्रिकाल भिन्न ऐसे निज-आत्माका अटल विश्वास करना उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्माको परवस्तुओंसे भिन्न जानना (ज्ञान करना) उसे निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा जाता है। तथा परद्रव्योंका आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूपमें एकाग्रतासे मग्न होना वह निश्चय सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) कहलाता है। अब आगे व्यवहार-मोक्षमार्गका कथन करते हैं। क्योंकि जब निश्चय-मोक्षमार्ग हो तब व्यवहार-मोक्षमार्ग निमित्तरूपमें कैसा होता है वह जानना चाहिये।

व्यवहार सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का स्वरूप

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानो;
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्योंका त्यों सरधानो।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो;
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीत उर आनो॥ २॥
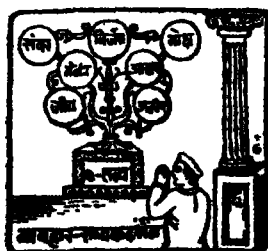
अन्वयार्थः—(जिन) जिनेन्द्रदेवने (जीव) जीव, (अजीव) अजीव, (आस्रव) आस्रव, (बन्ध) बन्ध, (संवर) संवर, (निर्जरा)

निर्जरा, (अरु) और (मोक्ष) मोक्ष, (तत्त्व) यह सात तत्त्व (कहे) कहे हैं; (तिनको) उन सबकी (ज्योंका त्यों) यथावत्–यथार्थरूपसे (सरधानो) श्रद्धा करो। (सोई) इस प्रकार श्रद्धा करना सो (समकित व्यवहारी) व्यवहारसे सम्यग्दर्शन है। अब (इन रूप) इन सात तत्त्वोंके रूपका (बखानो) वर्णन करते हैं; (तिनको) उन्हें (सामान्य विशेषं) संक्षेपसे तथा विस्तारसे (सुन) सुनकर (उर) मनमें (दिढ़) अटल (प्रतीत) श्रद्धा (आनो) करो।

भावार्थः—(१) निश्चयसम्यग्दर्शनके साथ व्यवहार सम्यक्-दर्शन कैसे होता है उसका यहाँ वर्णन है। जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन न हो उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। निश्चयश्रद्धा-सहित सात तत्त्वोंकी विकल्प-रागसहित श्रद्धाको व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

(२) तत्त्वार्थसूत्रमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ४७७ तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २२)

यहाँ जो सात तत्त्वोंकी श्रद्धा कही है वह भेदरूप है—राग-सहित है, इसलिये वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चयमोक्षमार्गमें कैसा निमित्त होता है वह बतलानेके लिये यहाँ तीसरी गाथा कही है; किन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि—निश्चयसम्यक्त्व बिना व्यवहारसम्यक्त्व हो सकता है।

जीवके भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्माका लक्षण

बहिरातम, अन्तरआतम, परमातम जीव त्रिधा है;
देह जीवको एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।

उत्तम मध्यम जघन त्रिविधके अन्तर-आतम ज्ञानी;
द्विविध संगबिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (बहिरातम) बहिरात्मा, (अन्तरआतम) अन्तरात्मा [और] (परमातम) परमात्मा, [इस प्रकार] (जीव) जीव (त्रिधा) तीन प्रकारके (है) हैं; [उनमें] (देह जीवको) शरीर और आत्माको (एक गिने) एक मानते हैं वे (बहिरातम) बहिरात्मा हैं [और वे बहिरात्मा] (तत्त्वमुधा) यथार्थ तत्त्वोंसे अजान अर्थात तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। (आतमज्ञानी) आत्माको परवस्तुओंसे भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाले (अन्तर-आतम) अन्तरात्मा [कहलाते हैं; वे] (उत्तम) उत्तम (मध्यम) मध्यम और (जघन) जघन्य ऐसे (त्रिविध) तीन प्रकारके हैं; [उनमें] (द्विविध) अंतरंग तथा बहिरंग ऐसे दो प्रकारके (संगबिन) परिग्रह रहित (शुध उपयोगी) शुद्ध उपयोगी (निजध्यानी) आत्मध्यानी (मुनि) दिगम्बर मुनि (उत्तम) उत्तम अन्तरात्मा हैं।

भावार्थः—जीव (आत्मा) तीन प्रकारके हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। उनमें जो शरीर और आत्माको एक मानते हैं उन्हें बहिरात्मा कहते हैं; वे तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। जो शरीर आत्माको अपने भेदविज्ञानसे भिन्न भिन्न मानते हैं वे अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं। अन्तरआत्माके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उनमें अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित सातवेंसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक वर्तते हुए शुद्ध-उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।

जीवके भेद-उपभेद
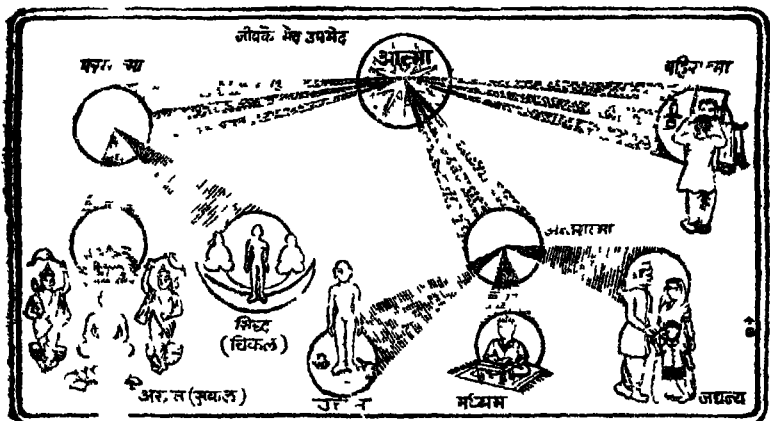
मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा तथा सकल परमात्मा

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;
जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।
सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी॥ ५॥

अन्वयार्थ:—(अनगारी) छठवें गुणस्थानके समय अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह रहित यथाजातरूपधर—भावलिंगी मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा (देशव्रती) दो कषायके अभाव सहित ऐसे पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक (मध्यम) मध्यम (अन्तर-आतम) अन्तरात्मा (हैं) हैं और (अविरत) व्रतरहित (समदृष्टि) सम्यग्दृष्टि जीव (जघन) जघन्य अन्तरात्मा (कहे) कहलाते हैं;

(तीनों) यह तीनों (शिवमगचारी) मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं। (सकल निकल) सकल और निकलके भेदसे (परमातम) परमात्मा (द्वैविध) दो प्रकारके हैं (तिनमें) उनमें (घाति) चार घाति-कर्मोंको (निवारी) नाश करनेवाले (लोकालोक) लोक तथा अलोकको (निहारी) जानने-देखनेवाले (श्री अरिहन्त) अरहन्त परमेष्ठी (सकल) शरीरसहित (परमातम) परमात्मा हैं।

भावार्थः—(१) जो निश्चयसम्यग्दर्शनादि सहित हैं; तीन कषाय रहित, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मको अंगीकार करके अंतरंगमें तो उस शुद्धोपयोगरूप द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, किसीको इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोगका तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है—ऐसी अन्तरंगदशा सहित बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं और छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थानके समय अट्ठाईस मूलगुणोंका अखण्डरूपसे पालन करते हैं वे, तथा जो अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानीय ऐसे दो कषायके अभाव सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं अर्थात् छठवें और पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा है।*

(२) सम्यग्दर्शनके बिना कभी धर्मका प्रारम्भ नहीं होता; जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है वह जीव बहिरात्मा है।

(३) परमात्माके दो प्रकार हैं—सकल और निकल। (१) श्री अरिहंतपरमात्मा वे [1]सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं (२) सिद्ध

---

* सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
श्रावकगुणैस्तु युक्ताः, प्रमत्तविरताश्च मध्यमाः भवन्ति॥

अर्थः—श्रावकके गुणोंसे युक्त और प्रमत्तविरत मुनि मध्यम अंतरात्मा हैं। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा-१९६)

१—स = सहित, कल = शरीर, सकल अर्थात् शरीर सहित।

परमात्मा वे[1] निकल परमात्मा हैं। वे दोनों सर्वज्ञ होनेसे लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थोंका त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समयमें युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले, सबके ज्ञाता-द्रष्टा हैं, इससे निश्चित होता है कि—जिस प्रकार सर्वज्ञका ज्ञान व्यवस्थित है, उसी-प्रकार उनके ज्ञानके ज्ञेय-सर्वद्रव्य-छहों द्रव्योंकी त्रैकालिक क्रमबद्ध पर्यायें निश्चित-व्यवस्थित हैं, कोई पर्याय उल्टी-सीधी अथवा अव्यवस्थित नहीं होती, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है। जिसकी ऐसी मान्यता (-निर्णय) नहीं होती उसे स्व-पर पदार्थोंका निश्चय न होनेसे शुभाशुभ विकार और परद्रव्यके साथ कर्ताबुद्धि-एकताबुद्धि होती ही है। इसलिये वह जीव बहिरात्मा है।

निकल परमात्माका लक्षण तथा परमात्माके ध्यानका उपदेश

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै;
परमातमको ध्यान निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥ ६॥

अन्वयार्थः—(ज्ञानशरीरी) ज्ञानमात्र जिनका शरीर है ऐसे (त्रिविध) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म, ऐसे तीन प्रकारके (कर्ममल) कर्मरूपी मैलसे (वर्जित) रहित, (अमल) निर्मल और (महन्ता) महान (सिद्ध) सिद्ध परमेष्ठी (निकल) निकल (परमातम) परमात्मा हैं। वे (अनन्त) अपरिमित (शर्म) सुख (भोगैं) भोगते हैं। इन तीनोंमें (बहिरातमता) बहिरात्मपनेको (हेय) छोड़ने योग्य

१—नि = रहित, कल = शरीर, निकल अर्थात् शरीर रहित।

(जानि) जानकर और (तजि) उसे छोड़कर (अन्तर आतम) अन्तरात्मा (हूजै) होना चाहिये और (निरन्तर) सदा (परमातमको) [निज] परमात्मपदका (ध्यान) ध्यान करना चाहिए; (जो) जिसके द्वारा (नित) अर्थात् अनन्त (आनन्द) आनन्द (पूजे) प्राप्त किया जाता है ।

भावार्थः—औदारिक आदि शरीर रहित शुद्ध ज्ञानमय द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित, निर्दोष और पूज्य सिद्ध परमेष्ठी 'निकल' परमात्मा कहलाते हैं; वे अक्षय अनन्तकाल तक अनन्तसुखका अनुभव करते हैं । इन तीनमें बहिरात्मपना मिथ्यात्वसहित होनेके कारण हेय (छोड़ने योग्य) है, इसलिये आत्महितैषियोंको चाहिये कि उसे छोड़कर, अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) बनकर परमात्मपना प्राप्त करें; क्योंकि उससे सदैव सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ।

अजीव—पुद्गल, धर्म और अधर्मद्रव्यके लक्षण तथा भेद

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं;
पुद्गल पंच वरन—रस, गंध-दो फरस वसू जाके हैं ।
जिय पुद्गलको चलन सहाई, धर्म द्रव्य अनरूपी;
तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिन बिन-मूर्ति निरूपी ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—जो (चेतनता-बिन) चेतनता रहित है (सो) वह (अजीव) अजीव है; (ताके) उस अजीवके (पंच भेद) पांच भेद हैं; (जाके पंच वरन—रस) जिसके पाँच वर्ण और रस, दो गन्ध और (वसू) आठ (फरस) स्पर्श (हैं) होते हैं वह पुद्गलद्रव्य है । जो (जिय) जीवको [और] (पुद्गलको) पुद्गलको (चलन सहाई) चलनेमें निमित्त [और] (अनरूपी) अमूर्तिक है वह (धर्म)

धर्मद्रव्य है। तथा (तिष्ठत) गतिपूर्वक स्थितिपरिणामको प्राप्त [जीव और पुद्गलको] (सहाई) निमित्त (होय) होता है वह (अधर्म) अधर्म द्रव्य है। (जिन) जिनेन्द्र भगवानने उस अधर्म-द्रव्यको (बिन-मूर्ति) अमूर्तिक, (निरूपी) अरूपी कहा है।

भावार्थ:—जिसमें चेतना (ज्ञान-दर्शन अथवा जानने-देखने-की शक्ति) नहीं होती उसे अजीव कहते हैं। उस अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, *अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श होते हैं उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जो स्वयं गति करते हैं ऐसे जीव और पुद्गलको चलनेमें निमित्तकारण होता है वह धर्मद्रव्य है; तथा जो स्वयं (अपने

---
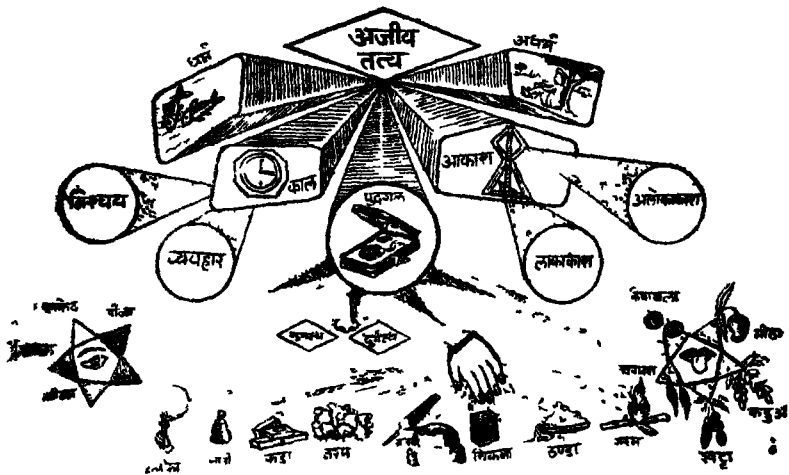
* धर्म और अधर्मसे यहाँ पुण्य और पाप नहीं, किन्तु छह द्रव्योंमें आने वाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो अजीव द्रव्य समझना चाहिये।

आप) गतिपूर्वक स्थिर रहे हुए जीव और पुद्गलको स्थिर रहनेमें निमित्तकारण है वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवानने इन धर्म, अधर्म द्रव्योंको, तथा जो आगे कहे जायेंगे उन आकाश और काल द्रव्योंको अमूर्तिक (इन्द्रिय-अगोचर) कहा है। ७।

आकाश, काल और आस्रवके लक्षण अथवा भेद

सकल द्रव्यको वास जासमें, सो आकाश पिछानो;
नियत वर्तना निशिदिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।
यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा;
मिथ्या अविरत अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥ ८॥

अन्वयार्थः—(जासमें) जिसमें (सकल) समस्त (द्रव्यको) द्रव्योंका (वास) निवास है (सो) वह (आकाश) आकाश द्रव्य (पिछानो) जानना; (वर्तना) स्वयं प्रवर्तित हो और दूसरोंको प्रवर्तित होनेमें निमित्त हो वह (नियत) निश्चय कालद्रव्य है; तथा (निशिदिन) रात्रि, दिवस आदि (व्यवहारकाल) व्यवहार-काल (परिमानो) जानो। (यों) इस प्रकार (अजीव) अजीवतत्त्व-का वर्णन हुआ। (अब) अब (आस्रव) आस्रवतत्त्व (सुनिये) सुनो। (मन-वच-काय) मन, वचन और कायाके आलम्बनसे

आत्माके प्रदेश चंचल होनेरूप (त्रियोगा) तीन प्रकारके योग तथा मिथ्यात्व, अविरत, कषाय (अरु) और (परमाद) प्रमाद (सहित) सहित (उपयोग) आत्माकी प्रवृत्ति वह (आस्रव) आस्रवतत्त्व कहलाता है।

भावार्थः—जिसमें छह द्रव्योंका निवास है उस स्थानको +आकाश कहते हैं। जो अपने आप बदलता है तथा अपने आप बदलते हुए अन्य द्रव्योंको बदलनेमें निमित्त है उसे *"निश्चयकाल" कहते हैं। रात, दिन, घड़ी, घण्टा आदिको "व्यवहारकाल" कहा जाता है।—इस प्रकार अजीवतत्त्वका वर्णन हुआ। अब, आस्रव-तत्त्वका वर्णन करते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग—ऐसे पाच भेद हैं। ८।

[आस्रव और बन्ध दोनोंमें भेदः—जीवके मिथ्यात्व–मोह–राग–द्वेषरूप परिणाम वह भाव-आस्रव है और उन मलिन भावोंमें स्निग्धता वह भाव-बन्ध है]

+ जिस प्रकार किसी बरतनमें पानी भरकर उसमें भस्म (राख) डाली जाये तो वह समा जाती है; फिर उसमें शर्करा डाली जाये तो वह भी समा जाती है; फिर उसमें सुइयाँ डाली जायें तो वे भी समा जाती हैं; उसी प्रकार आकाशमें भी मुख्य अवगाहन–शक्ति है; इसलिये उसमें सर्वद्रव्य एकसाथ रह सकते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको रोकता नहीं है।

* अपनी–अपनी पर्यायरूपसे स्वयं परिणमित होते हुए जीवादिक द्रव्योंके परिणमनमें जो निमित्त हो उसे कालद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार कुम्हारके चाकको घूमनेमें धुरी (कीली)। कालद्रव्यको निश्चयकाल कहते हैं। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही काल-द्रव्य (कालाणु) हैं। दिन, घड़ी, घण्टा, मास—उसे व्यवहारकाल कहते हैं। (जैन सि. प्रवेशिका)।

आस्रवत्यागका उपदेश और बन्ध, संवर, निर्जराका लक्षण

ये ही आतमको दुःख-कारण, तातैं इनको तजिये;
जीवप्रदेश बंधै विधि सौं सो, बंधन कबहुँ न सजिये।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये;
तप-बल तैं विधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये ॥ ९ ॥
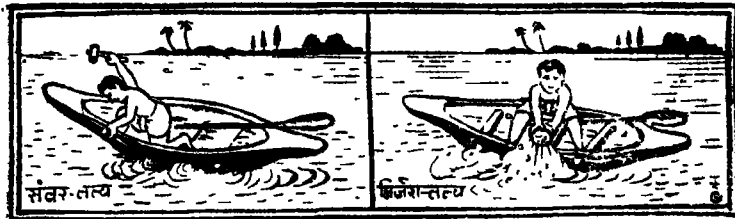
अन्वयार्थः—(**ये ही**) यह मिथ्यात्वादि ही (**आतमको**) आत्माको (**दुःख-कारण**) दुःखका कारण हैं (**तातैं**) इसलिये (**इनको**) इन मिथ्यात्वादिको (**तजिये**) छोड़ देना चाहिये (**जीवप्रदेश**) आत्माके प्रदेशोंका (**विधि सौं**) कर्मोंसे (**बन्धै**) बँधना वह (**बंधन**) बन्ध [कहलाता है,] (**सो**) वह [बन्ध] (**कबहुँ**) कभी भी (**न सजिये**) नहीं करना चाहिये। (**शम**) कषायोंका अभाव [और] (**दम तैं**) इन्द्रियों तथा मनको जीतनेसे

(कर्म) कर्म (न आवें) नहीं आयें वह (संवर) संवरतत्त्व है; (ताहि) उस संवरको (आदरिये) ग्रहण करना चाहिये। (तपबल तें) तपकी शक्तिसे (विधि) कर्मोंका (झरन) एकदेश खिर जाना सो (निरजरा) निर्जरा है। (ताहि) उस निर्जराको (सदा) सदैव (आचरिये) प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थः—यह मिथ्यात्वादि ही आत्माको दुःखका कारण हैं, किन्तु पर पदार्थ दुःखका कारण नहीं हैं; इसलिये अपने दोषरूप मिथ्याभावोंका अभाव करना चाहिये। स्पर्शोंके साथ पुद्गलोंका बन्ध, रागादिके साथ जीवका बन्ध और अन्योन्यअवगाह वह पुद्गलजीवात्मक बन्ध कहा है। (प्र०सार गाथा १७७।) रागपरिणाममात्र ऐसा जो भावबन्ध है वह द्रव्यबन्धका हेतु होनेसे वही निश्चयबन्ध है जो छोड़ने योग्य है।

(२) मिथ्यात्व और क्रोधादिरूप भाव—उन सबको सामान्यरूपसे कषाय कहा जाता है (मोक्षमार्ग प्रकाशक, देहली—पृष्ठ ४०) ऐसे कषायके अभावको शम कहते हैं। और दम अर्थात् जो ज्ञेय—ज्ञायक, संकर दोष टालकर, इन्द्रियोंको जीतकर, ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक (पृथक् परिपूर्ण) आत्माको जानता है उसे निश्चयनयमें स्थित साधु वास्तवमें—जितेन्द्रिय कहते हैं। (स. गा. ३१)

स्वभाव—परभावके भेदज्ञान द्वारा द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषयोंसे आत्माका स्वरूप भिन्न है—ऐसा जानना उसे इन्द्रिय-दमन कहते हैं। परन्तु आहारादि तथा पाच इन्द्रियोंके विषयरूप बाह्य वस्तुओंके त्यागरूप जो मन्दकषाय है उससे वास्तवमें इन्द्रिय-दमन नहीं होता, क्योंकि वह तो शुभराग है, पुण्य है, इसलिये बन्धका कारण है—ऐसा समझना।

(३) शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है। प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्यके आलम्बनानुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है। क्रमशः जितने अंशमें रागका अभाव हो, उतने अंशमें संवर-निर्जरारूप धर्म होता है। स्वोन्मुखताके बलसे शुभाशुभ इच्छाका निरोध सो तप है। उस तपसे निर्जरा होती है।

(४) संवरः—पुण्य-पापरूप अशुद्ध भाव (आस्रव) को आत्माके शुद्धभाव द्वारा रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्मोंका आना स्वयं-स्वतः रुक जाये सो द्रव्यसंवर है।

(५) निर्जराः—अखण्डानन्द निज शुद्धात्माके लक्षसे अंशतः शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्धिकी अंशतः हानि करना सो भावनिर्जरा है; और उस समय खिरने योग्य कर्मोंका अंशतः छूट जाना सो द्रव्य-निर्जरा है। (लघु जैन सि. प्र. पृष्ठ ४५-४६ प्रश्न १२१)

(६) जीव-अजीवको उनके स्वरूप सहित जानकर स्व तथा परको यथावत् मानना, आस्रवको जानकर उसे हेयरूप, बन्धको जानकर उसे अहितरूप, संवरको पहिचानकर उसे उपादेयरूप तथा निर्जराको पहिचानकर उसे हितका कारण मानना चाहिये* (मोक्ष-मार्ग प्र० अ० ९, पृष्ठ ४६९)।

---

* आस्रव आदिके दृष्टांतः—

(१) आस्रवः—जिस प्रकार किसी नौकामें छिद्र हो जानेसे उसमें पानी आने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि आस्रवके द्वारा आत्मामें कर्म आने लगते हैं।

(२) बंधः—जिस प्रकार छिद्र द्वारा पानी नौकामें भर जाता है, उसी प्रकार कर्मपरमाणु आत्माके प्रदेशोंमें पहुँचते हैं (एक क्षेत्रमें रहते हैं)।

मोहका लक्षण, व्यवहारसम्यक्त्वका लक्षण तथा कारण

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी;
इहि विध जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी ।
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो;
येहु मान समकितका कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो ॥ १० ॥
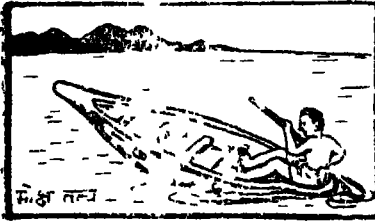
अन्वयार्थः—(**सकल कर्मतैं**) समस्त कर्मोंसे (**रहित**) रहित (**थिर**) स्थिर—अटल (**सुखकारी**) अनन्त सुखदायक (**अवस्था**) दशा—पर्याय सो (**शिव**) मोक्ष कहलाता है । (**इहि विध**) इस प्रकार

---

(३) संवरः—जिस प्रकार छिद्र बन्द करनेसे नौकामें पानीका आना रुक जाता है, उसी प्रकार शुद्धभावरूप गुप्ति आदिके द्वारा आत्मामें कर्मोंका आना रुक जाता है ।

(४) निर्जराः—जिस प्रकार नौकामें आये हुए पानीमेंसे थोड़ा (किसी बरतनमें भरकर) बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार निर्जरा द्वारा थोड़े-से कर्म आत्मासे अलग हो जाते हैं ।

(५) मोक्षः—जिस प्रकार नौकामें आया हुआ सारा पानी निकाल देनेसे नौका एकदम पानी रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मामेंसे समस्त कर्म पृथक् हो जानेसे आत्माकी परिपूर्ण शुद्धदशा (मोक्षदशा), प्रगट हो जाती है अर्थात् आत्मा मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

(जो) जो (तत्त्वनको) सात तत्त्वोंके भेदसहित (सरधा) श्रद्धा करना सो (व्यवहारी) व्यवहार (समकित) सम्यग्दर्शन है। (जिनेन्द्र) वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी (देव) सच्चे देव (परिग्रह बिन) चौबीस परिग्रहसे रहित (गुरु) वीतराग गुरु [तथा] (सारो) सारभूत (दयाजुत) अहिंसामय (धर्म) जैनधर्म (येहु) इन सबको (समकितको) सम्यग्दर्शनका (कारण) निमित्त-कारण (मान) जानना चाहिये। सम्यग्दर्शनको उसके (अष्ट) आठ (अंगजुत) अंगों सहित (धारो) धारण करना चाहिये।

भावार्थः—मोक्षका स्वरूप जानकर उसे अपना परमहित मानना चाहिये। आठ कर्मोंके सर्वथा नाश पूर्वक आत्माकी जो सम्पूर्ण शुद्ध दशा (पर्याय) प्रगट होती है उसे मोक्ष कहते हैं। वह दशा अविनाशी तथा अनन्त सुखमय है:—इस प्रकार सामान्य और विशेषरूपसे सात तत्त्वोंकी अचल श्रद्धा करना उसे व्यवहार-सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) कहते हैं। जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु, तथा जिनेन्द्रप्रणीत अहिंसामय धर्म भी उस व्यवहार सम्यग्दर्शनके कारण हैं अर्थात् इन तीनोंका यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। उसे निम्नोक्त आठ अङ्गों सहित धारण करना चाहिये। व्यवहार सम्यक्त्वीका स्वरूप पहले, दूसरे तथा तीसरे छंदके भावार्थमें समझाया है। निश्चयसम्यक्त्वके बिना मात्र व्यवहारको व्यवहारसम्यक्त्व नहीं कहा जाता ॥ १० ॥

सम्यक्त्वके पच्चीस दोष तथा आठ गुण

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;
शंकादिक वसु दोष विना, संवेगादिक चित पागो।

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;
बिन जाने तैं दोष गुननकों, कैसे तजिये गहिये ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(वसु) आठ (मद) मदका (टारि) त्याग करके, (त्रिशठता) तीन प्रकारकी मूढ़ताको (निवारि) हटाकर, (षट्) छह (*अनायतन) अनायतनोंका (त्यागो) त्याग करना चाहिये। (शंकादिक) शंकादि (वसु) आठ (दोष बिना) दोषोंसे रहित होकर (संवेगादिक) संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशममें (चित) मनको (पागो) लगाना चाहिये। अब, सम्यक्त्वके (अष्ट) आठ (अंग) अंग (अरु) और (पचीसों दोष) पच्चीस दोषोंको (संक्षेपै) संक्षेपमें (कहिये) कहा जाता है। क्योंकि (बिन जाने तैं) उन्हें जाने बिना (दोष) दोषोंको (कैसे) किस प्रकार (तजिये) छोड़ें और (गुननको) गुणोंको किस प्रकार (गहिये) ग्रहण करें ?

भावार्थः—आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन (अधर्म-स्थान) और आठ शंकादि दोष;—इस प्रकार सम्यक्त्वके पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टिको होते हैं। सम्यक्त्वके अभिलाषी जीवको सम्यक्त्वके इन पच्चीस दोषोंका त्याग करके उन भावनाओंमें मन लगाना चाहिये। अब सम्यक्त्वके आठ गुणों (अंगों) और पच्चीस दोषोंका संक्षेपमें वर्णन किया जाता है; क्योंकि जाने और समझे बिना दोषोंको कैसे छोड़ा जा सकता है, तथा गुणोंको कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? ॥ ११ ॥

---

* अन + आयतन = अनायतन = धर्मका स्थान न होना ।
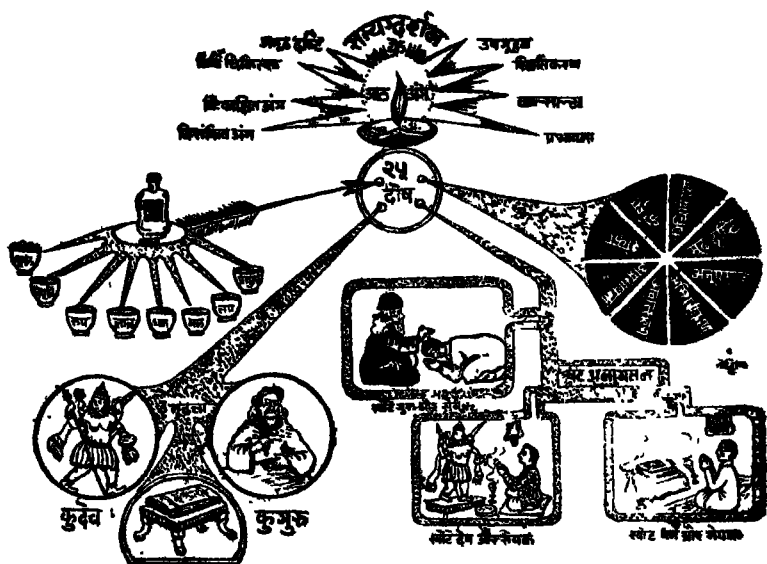
सम्यक्त्वके आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोषोंका लक्षण

जिन वचमें शंका न धार वृष, भव-सुख-वांछा भानैं;
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै ।
निज गुण अरु पर औगुण ढांके, वा निजधर्म बढ़ावै;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै ॥ १२ ॥

छन्द १३ (पूर्वार्द्ध)

धर्मी सों गौ-बच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;
इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै ।

अन्वयार्थः—१–(जिन वचमें) सर्वज्ञदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें (शंका) संशय–सन्देह (न धार) धारण नहीं करना [सो निःशंकित अंग है]; २–(वृष) धर्मको (धार) धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखोंकी इच्छा (भानै) न करे [सो निःकांक्षित अंग है]; ३–(मुनि-तन) मुनियोंके शरीरादि (मलिन) मैले (देख) देखकर (न घिनावै) घृणा न करना [सो निर्विचिकित्सा अंग है]; ४–(तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वोंकी (पिछानै) पहिचान रखे [सो अमूढ़दृष्टि अंग है]; ५–(निजगुण) अपने गुणोंको (अरु) और (पर औगुण) दूसरेके अवगुणोंको (ढांके) छिपाये (वा) तथा (निजधर्म) अपने आत्मधर्मको (बढ़ावै) बढ़ाये अर्थात् निर्मल बनाए [सो उपगूहन अंग है] ६–(कामादिक कर) काम-विकारादिके कारण

(वृषतैं) धर्मसे (चिगते) च्युत होते हुए (निज-परको) अपनेको तथा परको (सु बिढावे) उसमें पुनः दृढ करे [सो स्थितिकरण अंग है ।] ७–(धर्मी सों) अपने साधर्मीजनोंसे (गौ-वच्छ-प्रीति सम) बछड़े पर गायकी प्रीति समान (कर) प्रेम रखना [सो वात्सल्य अंग है] और (जिनधर्म) जैनधर्मकी (दिपावै) शोभामें वृद्धि करना [सो प्रभावना अंग है] । (इन गुणतैं) इन [आठ] गुणोंसे (विपरीत) उल्टे (वसु) आठ (दोष) दोष हैं, (तिनको) उन्हें (सतत) हमेशा (खिपावै) दूर करना चाहिये ।

भावार्थः—(१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकारसे नहीं है.—इस प्रकार यथार्थ तत्त्वोंमें अचल श्रद्धा होना सो निःशंकित अंग कहलाता है ।

टिप्पणीः—अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगोंको कभी भी आदरणीय नहीं मानते; किन्तु जिसप्रकार कोई बन्दी कारागृहमें (इच्छा न होने पर भी) दुःख सहन करता है, उसीप्रकार वे अपने पुरुषार्थकी निर्बलतासे गृहस्थदशामें रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगोंकी इच्छा नहीं करते; इसलिये उन्हें निःशंकित और निःकांक्षित अंग होनेमें कोई बाधा नहीं आती ।

(२) धर्म सेवन करके उसके बदलेमें सांसारिक सुखोंकी इच्छा न करना उसे निःकांक्षित अंग कहते हैं ।

(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्माके शरीरको मैला देखकर घृणा न करना उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं ।

(४) सच्चे और झूठे तत्त्वोंकी परीक्षा करके मूढताओं तथा अनायतनोंमें न फँसना वह अमूढदृष्टि अङ्ग है ।

(५) अपनी प्रशंसा करानेवाले गुणोंको तथा दूसरेकी निंदा कराने-

वाले दोषोंको ढंकना और आत्मधर्मको बढ़ाना (निर्मल रखना) सो उपगूहन अंग है ।

टिप्पणीः—उपगूहनका दूसरा नाम " उपबृंहण " भी जिनागममें आता है; जिससे आत्मधर्ममें वृद्धि करनेको भी उपगूहन कहा जाता है । श्री अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपायके २७ वें श्लोकमें भी यही कहा हैः—

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहगुणार्थम् ॥ २७ ॥

(६) काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारणसे (सम्यक्त्व और चारित्रसे) भ्रष्ट होते हुए अपनेको तथा परको पुनः उसमें स्थिर करना स्थितिकरण अंग है ।

(७) अपने साधर्मी जन पर बछड़ेसे प्यार रखनेवाली गायकी भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना सो वात्सल्य अंग है ।

(८) अज्ञान-अन्धकारको दूर करके विद्या-बल-बुद्धि आदिके द्वारा शास्त्रमें कही हुई योग्य रीतिसे अपने सामर्थ्यानुसार जैन-धर्मका प्रभाव प्रगट करना वह प्रभावना अंग है ।

—इन अंगों (गुणों)से विपरीत १—शंका, २—कांक्षा, ३—विचिकित्सा, ४-मूढ़दृष्टि, ५—अनुपगूहन, ६—अस्थितिकरण, ७—अवात्सल्य और ८—अप्रभावना—यह सम्यक्त्वके आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिये । (१२–१३ पूर्वार्द्ध)

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठानै;
मद न रूपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै ॥ १३ ॥

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तौ यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै ।

अन्वयार्थः—[जो जीव] (जो) यदि (पिता) पिता आदि पितृपक्षके स्वजन (भूप) राजादि (होय) हों (तौ) तो (मद) अभिमान (न ठानै) नहीं करता, [यदि] (मातुल) मामा आदि मातृपक्षके स्वजन (नृप) राजादि (होय) हों तो (मद) अभिमान (न) नहीं करता; (ज्ञानकौ) विद्याका (मद न) अभिमान नहीं करता; (धनकौ) लक्ष्मीका (मद भानै) अभिमान नहीं करता; (बलकौ) शक्तिका (मद भानै) अभिमान नहीं करता; (तपकौ) तपका (मद न) अभिमान नहीं करता; (जु) और (प्रभुताकौ) ऐश्वर्य, बड़प्पनका (मद न करै) अभिमान नहीं करता (सो) वह

(निज) अपने आत्माको (जानै) जानता है। [यदि जीव उनका] (मद) अभिमान (धारै) रखता है तो (यही) ऊपर कहे हुए मद (वसु) आठ (दोष) दोषरूप होकर (समकितको) सम्यक्त्व-को—सम्यक्‌दर्शनको (मल) दूषित (ठानै) करते हैं।

भावार्थः—पिताके गोत्रको कुल और माताके गोत्रको जाति कहते हैं। (१) पिता आदि पितृपक्षमें राजादि प्रतापी पुरुष होनेसे (मैं राजकुमार हूँ आदि) अभिमान करना सो कुल-मद है। (२) मामा आदि मातृपक्षमें राजादि प्रतापी पुरुष होनेका अभिमान करना सो जाति-मद है (३) शारीरिक सौन्दर्यका मद करना सो रूप-मद है। (४) अपनी विद्याका अभिमान करना सो ज्ञान-मद है। (५) अपनी धन—सम्पत्तिका अभिमान करना सो धन-मद है। (६) अपनी शारीरिक शक्तिका गर्व करना सो बल-मद है (७) अपने व्रत—उपवासादि तपका गर्व करना सो तप-मद है। तथा (८) अपने बड़प्पन और आज्ञाका गर्व करना सो प्रभुता-मद है। कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता—यह आठ मद-दोष कहलाते हैं। जो जीव इन आठका गर्व नहीं करता वही आत्माका ज्ञान कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो यह मद सम्यग्दर्शनके आठ दोष बनकर उसे दूषित करते हैं। (१३ उत्तरार्द्ध तथा १४ पूर्वार्द्ध)।

छन्द १४ (उत्तरार्द्ध)

छह अनायतन तथा तीन मूढ़ता दोष

कुगुरु—कुदेव—कुवृष सेवनकी नहिं प्रशंस उचरै है;
जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करै है॥ १४॥

अन्वयार्थः—[सम्यग्दृष्टि जीव] (कुगुरु–कुदेव–कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म-सेवककी (प्रशंस) प्रशंसा (नहिं उचरै है) नहीं करता। (जिन) जिनेन्द्रदेव (मुनि) वीतरागी मुनि [और] (जिनश्रुत) जिनवाणी (विन) के अतिरिक्त [जो] (कुगुरादि) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म हैं (तिन्हें) उन्हें (नमन) नमस्कार (न करै है) नहीं करता।

भावार्थः—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म; कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक तथा कुधर्म सेवक,—यह छह अनायतन (धर्मके अस्थान) दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजनादि तो दूर रही, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशंसा भी नहीं करता; क्योंकि उनकी प्रशंसा करनेसे भी सम्यक्त्वमें दोष लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि और जिनवाणीके अतिरिक्त कुदेव, और कुशास्त्रादिको (भय, आशा, लोभ और स्नेह आदिके कारण भी) नमस्कार नहीं करता, क्योंकि उन्हें नमस्कार करने मात्रसे भी सम्यक्त्व दूषित हो जाता है। कुगुरु–सेवा, कुदेव–सेवा तथा कुधर्म–सेवा—यह तीन भी सम्यक्त्वके मूढ़ता नामक दोष हैं। १४।

अव्रती सम्यग्दृष्टिकी देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपनेमें अप्रीति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजै हैं
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।
गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल है;
नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है॥ १५॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (सुधी) बुद्धिमान पुरुष [ऊपर कहे हुए] (दोष रहित) पच्चीस दोषरहित [तथा] (गुणसहित) निःशंकादि आठ गुणों सहित (सम्यग्दरश) सम्यग्दर्शनसे (सजैं हैं) भूषित हैं [उन्हें] (चरितमोहवश) अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्मके उदयवश (लेश) किंचित भी (संजम) संयम (न) नहीं है (पै) तथापि (सुरनाथ) देवोंके स्वामी इन्द्र [उनकी] (जजैं हैं) पूजा करते हैं; [यद्यपि वे] (गेही) गृहस्थ हैं (पै) तथापि (गृहमें) घरमें (न रचै) नहीं राचते। (ज्यों) जिस प्रकार (कमल) कमल (जलतैं) जलसे (भिन्न) भिन्न है, [तथा] (यथा) जिस प्रकार (कादेमें) कीचड़में (हेम) सुवर्ण (अमल है) शुद्ध रहता है, [उसी प्रकार उनका घरमें] (नगरनारिको) वेश्याके (प्यार यथा) प्रेमकी भाँति (प्यार) प्रेम [होता है]।

भावार्थः—(जो विवेकी पच्चीस दोषरहित तथा आठ अंग) (आठ गुण) सहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं उन्हें, अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके तीव्र उदयमें युक्त होनेके कारण, यद्यपि संयमभाव लेशमात्र नहीं होता; तथापि इन्द्रादि उनकी पूजा (आदर) करते हैं। जिस प्रकार पानीमें रहने पर भी कमल पानीसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घरमें रहते हुए भी गृहस्थदशामें लिप्त नहीं होता, उदासीन (निर्मोह) रहता है। जिस

प्रकार *वेश्याका प्रेम मात्र पैसेसे ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिका प्रेम सम्यक्त्वमें ही होता है, किन्तु गृहस्थपनेमें नहीं होता। तथा जिस प्रकार सोना कीचड़में पड़े रहने पर भी निर्मल रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशामें रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उसे ÷त्याज्य (त्यागने योग्य) मानता है। ×

सम्यक्त्वकी महिमा, सम्यग्दृष्टिके अनुत्पत्ति स्थान तथा
सर्वोत्तम सुख और सर्व धर्मका मूल

प्रथम नरक विन षट भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।
तीनलोक तिहुँकाल माँहिं नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी॥ १६॥
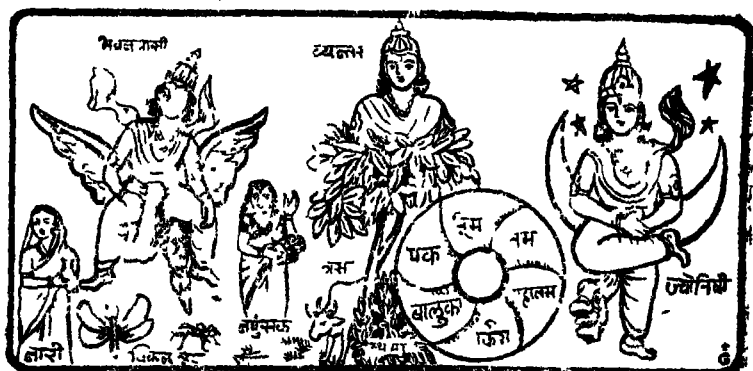
* यहाँ वेश्याके प्रेमसे मात्र आलिमनाकी तुलना की गई है।

÷ विषयासक्तः अपि सदा सर्वारम्भेषु वर्तमान अपि।
मोहविलासः एषः इति सर्वं मन्यते हेयं॥ ३४१॥ (स्वामी कार्तिके०)

× रोगीका औषधिसेवन और बन्दीको कारागृह भी इसके दृष्टान्त हैं।

अन्वयार्थः—(**सम्यक्धारी**) सम्यग्दृष्टि जीव (**प्रथम नरक बिन**) पहले नरकके अतिरिक्त (**षट् भू**) शेष छह नरकोंमें—(**ज्योतिष**) ज्योतिषी देवोंमें. (**वान**) व्यंतर देवोंमें, (**भवन**) भवनवासी देवोंमें (**षंड**) नपुंसकोंमें, (**नारी**) स्त्रियोंमें, (**थावर**) पाँच स्थावरोंमें, (**विकलत्रय**) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंमें तथा (**पशुमे**) कर्मभूमिके पशुओंमे (**नहि उपजत**) उत्पन्न नहीं होते। (**तीनलोक**) तीनलोक (**तिहुंकाल**) तीनकालमें (**दर्शन सो**) सम्यग्दर्शनके समान (**सुखकारी**) सुखदायक (**नहि**) अन्य कुछ नहीं है, (**यही**) यह सम्यग्दर्शन ही (**सकल धरमको**) समस्त धर्मोका (**मूल**) मूल है. (**इस बिन**) इस सम्यग्दर्शनके बिना (**करनी**) समस्त क्रियाएँ (**दुखकारी**) दुःखदायक हैं।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव आयु पूर्ण होने पर जब मृत्यु प्राप्त करते हैं तब दूसरेसे सातवें नरकके नारकी, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक सब प्रकारकी स्त्री, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमिके पशु नहीं होते; (नीच कुल वाले, विकृत अङ्गवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते) विमानवासी देव, भोगभूमिके मनुष्य अथवा तिर्यंच ही होते हैं। कर्मभूमिके तिर्यंच भी नहीं होते। कदाचित् *नरकमें जायें तो पहले नरकसे नीचे

---

* ऐसी दशामें सम्यग्दृष्टि प्रथम नरकके नपुंसकोंमें भी उत्पन्न होता है; उनसे भिन्न अन्य नपुंसकोंमें उसकी उत्पत्ति होनेका निषेध है।

टिप्पणी—जिस प्रकार श्रेणिक राजा सातवें नरककी आयुका बन्ध करके फिर सम्यक्त्वको प्राप्त हुए थे, उससे यद्यपि उन्हें नरकमें तो जाना ही पड़ा किन्तु आयु सातवें नरकमे घटकर पहले नरककी ही रही। इस प्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेसे पूर्व तिर्यंच अथवा मनुष्य आयुका बन्ध करते हैं वे भोगभूमिमें जाते हैं किन्तु कर्मभूमिमें तिर्यंच अथवा मनुष्यरूपमें उत्पन्न नहीं होते।

नहीं जाते। तीनलोक और तीनकालमें सम्यग्दर्शनके समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मोंका मूल है। इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकाण्ड हैं वे दुःखदायक हैं।

सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्रका मिथ्यापना

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
"दौल" समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥ १७॥
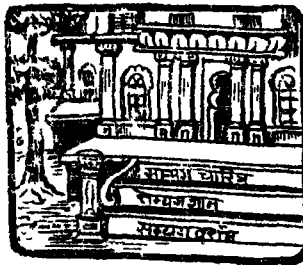
अन्वयार्थः—[यह सम्यग्दर्शन] (**मोक्षमहलकी**) मोक्षरूपी महलकी (**परथम**) प्रथम (**सीढी**) सीढ़ी है; (**या बिन**) इस सम्यग्दर्शनके बिना (**ज्ञान चरित्रा**) ज्ञान और चारित्र (**सम्यक्ता**) सच्चाई (**न लहै**) प्राप्त नहीं करते; इसलिये (**भव्य**) हे भव्य जीवो! (**सो**) ऐसे (**पवित्रा**) पवित्र (**दर्शन**) सम्यग्दर्शनको (**धारो**) धारण करो। (**सयाने 'दौल'**) हे समझदार दौलतराम! (**सुन**) सुन, (**समझ**) समझ और (**चेत**) सावधान हो, (**काल**) समयको (**वृथा**) व्यर्थ (**मत खोवै**) न गँवा; [क्योंकि] (**जो**) यदि

(सम्यक्) सम्यग्दर्शन (नहिं होवै) नहीं हुआ तो (यह) यह (नर भव) मनुष्य पर्याय (फिर) पुनः (मिलन) मिलना (कठिन है) दुर्लभ है।

भावार्थः—यह *सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महलमें पहुँचनेकी प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थीको ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये। पण्डित दौलतरामजी अपने आत्माको सम्बोध कर कहते हैं कि—हे विवेकी आत्मा! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शनके स्वरूपको स्वयं सुनकर अन्य अनुभवी ज्ञानियोंसे प्राप्त करनेमें सावधान हो; अपने अमूल्य मनुष्यजीवनको व्यर्थ न गँवा। इस जन्ममें ही यदि सम्यक्त्व प्राप्त न किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते। १७।

तीसरी ढालका सारांश

आत्माका कल्याण सुख प्राप्त करनेमें है। आकुलताका मिट जाना वह सच्चा सुख है; मोक्ष ही सुखरूप है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थीको मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना चाहिये।

निश्चयसम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यग्चारित्र—इन तीनोंकी एकता सो मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकारसे है। निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो वास्तवमें मोक्षमार्ग है, और व्यवहार-सम्यग्दर्शन–चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु वास्तवमें बन्धमार्ग है; लेकिन निश्चयमोक्षमार्गमें सहचर होनेसे उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

* सम्यग्दृष्टि जीवकी, निश्चय कुगति न होय।
पूर्वबन्ध तें होय तो सम्यक् दोष न कोय॥

आत्माकी परद्रव्योंसे भिन्नताका यथार्थ श्रद्धान सो निश्चय-सम्यग्दर्शन है और परद्रव्योंसे भिन्नताका यथार्थ ज्ञान सो निश्चय-सम्यग्ज्ञान है। परद्रव्यांका आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूपमें लीन होना सो निश्चयसम्यक्चारित्र है। तथा सातों तत्त्वोंका यथावत् भेदरूप अटल श्रद्धान करना सो व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि सात तत्त्वोंके भेदकी अटल श्रद्धा शुभराग होनेसे वह वास्तवमें सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु निचली दशामें (चौथे, पांचवें और छठवें गुणस्थानमें) निश्चयसम्यक्त्वके साथ सहचर होनेसे वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है।

आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन और शंकादि आठ—यह सम्यक्त्वके पच्चीस दोष हैं, तथा निःशंकितादि आठ सम्यक्त्वके अंग (गुण) हैं; उन्हें भलीभाँति जानकर दोषका त्याग तथा गुणका ग्रहण करना चाहिये।

जो विवेकी जीव निश्चयसम्यक्त्वको धारण करता है उसे जब तक निर्बलता है तब तक पुरुषार्थकी मन्दताके कारण यद्यपि किंचित् संयम नहीं होता, तथापि वह इन्द्रादिके द्वारा पूजा जाता है। तीन लोक और तीन कालमें निश्चयसम्यक्त्वके समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। सर्व धर्मोंका मूल, सार तथा मोक्षमार्गकी प्रथम सीढ़ी यह सम्यक्त्व ही है; उसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नहीं होते किन्तु मिथ्या कहलाते हैं।

आयुष्यका बन्ध होनेसे पूर्व सम्यक्त्व धारण करनेवाला जीव मृत्युके पश्चात् दूसरे भवमें नारकी, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, पशु, हीनांग, नीच गोत्रवाला, अल्पायु तथा दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिक देव होता है देव और नारकी सम्यग्दृष्टि मरकर कर्मभूमिमें उत्तम क्षेत्रमें मनुष्य ही होता है। यदि सम्यग्दर्शन

होनेसे पूर्व—१ देव, २ मनुष्य, ३ तिर्यंच या ४ नरकायुका बन्ध हो गया हो तो वह मरकर १ वैमानिक देव, २ भोगभूमिका मनुष्य; ३ भोगभूमिका तिर्यंच अथवा ४ प्रथम नरकका नारकी होता है। इससे अधिक नीचेके स्थानमें जन्म नहीं होता।—इस प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शनकी अपार महिमा है।

इसलिये प्रत्येक आत्मार्थीको सत्शास्त्रोंका स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्समागम तथा यथार्थ तत्त्वविचार द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि यदि इस मनुष्यभवमें निश्चयसम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो पुनः मनुष्यपर्याय प्राप्ति आदिका सुयोग मिलना कठिन है।

तीसरी ढालका भेद-संग्रह

अचेतन द्रव्यः—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

चेतन एक, अचेतन पाँचों, रहे सदा गुण-पर्ययवान,
केवल पुद्गल रूपवान है, पाँचों शेष अरूपी जान।

अन्तरंग परिग्रहः—१ मिथ्यात्व, ४ कषाय, ९ नोकषाय।

आस्रवः—५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय, १५ योग।

कारणः—उपादान और निमित्त।

द्रव्यकर्मः—ज्ञानावरणादि आठ।

नोकर्मः औदारिक, वैक्रियिक और आहारकादि शरीर।

परिग्रहः—अन्तरंग और बहिरंग।

प्रमादः—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा, १ प्रणय (स्नेह)।

बहिरंग परिग्रहः—क्षेत्र, मकान, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बरतन—यह दस हैं।

भावकर्मः—मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोधादि ।

मदः—आठ प्रकारके हैं:—

जाति लाभ कुल रूप तप, बल विद्या अधिकार;
इनको गर्व न कीजिये, ये मद अष्ट प्रकार ।

मिथ्यात्वः—विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान ।

रसः—खारा, खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा और कषायला ।

रूपः—(रंग)—काला, पीला, हरा, लाल और सफेद—यह पाँच रूप हैं ।

स्पर्शः—हलका, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, कोमल, ठण्डा गर्म—यह आठ स्पर्श हैं ।

तीसरी ढालका लक्षण-संग्रह

अनायतनः—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनोंके सेवक ये छहों अधर्मके स्थानक ।

अनायतनदोषः—सम्यक्त्वका नाश करनेवाले कुदेवादिकी प्रशंसा करना ।

अनुकम्पाः—प्राणी मात्र पर दयाका भाव ।

अरिहन्तः—चार घातिकर्मोंसे रहित, अनन्तचतुष्टयसहित वीतराग और केवलज्ञानी परमात्मा ।

अलोकः—जहाँ आकाशके अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं है वह स्थान ।

अविरतिः—पापोंमें प्रवृत्ति, अर्थात् १–निर्विकार स्वसंवेदनसे विपरीत अव्रत परिणाम, २–छह काय (–पांचों स्थावर

तथा एक त्रसकाय) जीवोंकी हिंसाके त्यागरूप भाव न होना तथा पांच इन्द्रिय और मनके विषयोंमें प्रवृत्ति करना ऐसे बारह प्रकार अविरति है।

अविरति सम्यग्दृष्टिः—सम्यग्दर्शन सहित, किन्तु व्रतरहित ऐसे चौथे गुणस्थानवर्ती जीव।

आस्तिक्यः—जीवादि छह द्रव्य, पुण्य और पाप, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा परमात्माके प्रति विश्वास सो आस्तिक्य कहलाता है।

कषायः—जो आत्माको दुःख दे, गुणोंके विकासको रोके तथा परतंत्र करे वह। यानी मिथ्यात्व तथा क्रोध, मान, माया और लोभ वह कषायभाव हैं।

गुणस्थानः—मोह और योगके सद्भाव या अभावसे आत्माके गुणों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की हीनाधिकतानुसार होनेवाली अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। (वरांगचरित्र पृ० ३६२)

घातियाः—अनन्त चतुष्टयको रोकनेमें निमित्तरूप कर्मको घातिया कहते हैं।

चारित्रमोहः—आत्माके चारित्रको रोकनेमें निमित्त सो मोहनीयकर्म।

जिनेन्द्रः—चार घातिया कर्मोंको जीतकर केवलज्ञानादि अनन्त-चतुष्टय प्रगट करनेवाले १८ दोषरहित परमात्मा।

देवमूढताः—भय, आशा, स्नेह, लोभवश रागी-द्वेषी देवोंकी सेवा करना अथवा वंदन-नमस्कार करना।

देशव्रती:—श्रावकके व्रतोंको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि, पाँचवें गुणस्थानमें वर्तनेवाले जीव।

निमित्तकारण:—जो स्वयं कार्यरूप न हो, किन्तु कार्यकी उत्पत्तिके समय उपस्थित रहे वह कारण।

नोकर्म:—औदारिकादि पाँच शरीर तथा छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलपरमाणु नोकर्म कहलाते हैं।

पाखंडी मूढता:—रागी-द्वेषी और वस्त्रादि परिग्रहधारी, झूठे तथा कुलिंगी साधुओंकी सेवा करना अथवा वंदन-नमस्कार करना।

पुद्गल:—जो पुरे और गले। परमाणु बन्धस्वभावी होनेसे मिलते हैं तथा पृथक् होते हैं, इसलिये वे पुद्गल कहलाते हैं। अथवा जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो वह पुद्गल।

प्रमाद:—स्वरूपमें असावधानीपूर्वक प्रवृत्ति अथवा धार्मिक कार्योंमें अनुत्साह।

प्रशम:—अनन्तानुबन्धी कषायके अन्तपूर्वक शेष कषायोंका अंशतः मन्द होना सो। (पंचाध्यायी भाग २, गाथा ४२८)

मद:—अहङ्कार, घमण्ड, अभिमान।

भावकर्म:—मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि जीवके मलिन भाव।

मिथ्यादृष्टि:—तत्त्वोंकी विपरीत श्रद्धा करनेवाले।

लोकमूढता:—धर्म समझकर जलाशयोंमें स्नान करना तथा रेत, पत्थर आदिका ढेर बनाना-आदि कार्य।

विशेष धर्म:—जो धर्म अमुक विशिष्ट द्रव्यमें रहे उसे विशेष धर्म कहते हैं।

शुद्धोपयोगः—शुभ और अशुभ राग-द्वेषकी परिणतिसे रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित चारित्रकी स्थिरता।

सामान्य गुणः—सर्व द्रव्योंमें समानतासे विद्यमान गुणोंको सामान्य कहते हैं।

सामान्यः—प्रत्येक वस्तुमें त्रैकालिक द्रव्य-गुणरूप, अभेद एकरूप भावको सामान्य कहते हैं।

सिद्धः—आठ गुणों सहित तथा आठ कर्मों एवं शरीररहित परमेष्ठी। [व्यवहारसे मुख्य आठ गुण और निश्चयसे अनन्त गुण प्रत्येक सिद्ध परमात्मामें हैं।

संवेगः—संसारसे भय होना और धर्म तथा धर्मके फलमें परम उत्साह होना। साधर्मी और पंचपरमेष्ठीमें प्रीतिको भी संवेग कहते हैं।

निर्वेदः—संसार, शरीर और भोगोंमें सम्यक् प्रकारसे उदासीनता अर्थात् वैराग्य।

अन्तर-प्रदर्शन

(१) जीवके मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम वह भाव-आस्रव है और उस परिणाममें स्निग्धता वह भावबन्ध है।

(२) अनायतनमें तो कुदेवादिकी प्रशंसा की जाती है, किन्तु मूढ़तामें तो उनकी सेवा, पूजा और विनय करते हैं।

(३) माताके वंशको जाति और पिताके वंशको कुल कहा जाता है।

(४) धर्मद्रव्य तो छह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य है, और धर्म वह वस्तुका स्वभाव अथवा गुण है।

(५) निश्चयनय वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बतलाता है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यका अथवा उनके भावोंका अथवा कारण-कार्यादिकका किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है। ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७)

(६) निकल (-शरीर रहित) परमात्मा आठों कर्मोंसे रहित हैं और सकल (शरीर रहित) परमात्माको चार अघातिकर्म होते हैं।

(७) सामान्य धर्म अथवा गुण तो अनेक वस्तुओंमें रहता है, किन्तु विशेष धर्म या विशेष गुण तो अमुक खास वस्तुमें ही होता है।

(८) सम्यग्दर्शन अंगी है और निःशङ्कित अंग उसका एक अंग है।

तीसरी ढालकी प्रश्नावली

(१) अजीव, अधर्म, अनायतन, अलोक, अन्तरात्मा, अरिहन्त, आकाश, आत्मा, आस्रव, आठ अंग, आठ मद, उत्तम अन्तरात्मा, उपयोग, कषाय, काल, कुल, गन्ध, चारित्रमोह, जघन्य अन्तरात्मा, जाति, जीव, मद, देवमूढ़ता, द्रव्यकर्म, निकल निश्चयकाल, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षमार्ग, निर्जरा, नोकर्म, परमात्मा, पाखंडी मूढ़ता, पुद्गल, बहिरात्मा, बन्ध, मध्यम अन्तरात्मा, मूढ़ता, मोक्ष, रस, रूप लोकमूढ़ता, विशेष, विकलत्रय, व्यवहारकाल, सम्यग्दर्शन, शम, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, सुख, सकल परमात्मा, संवर, संवेग, सामान्य, सिद्ध तथा स्पर्श आदिके लक्षण बतलाओ।

(२) अनायतन और मूढ़तामें, जाति और कुलमें, धर्म और धर्म-द्रव्यमें, निश्चय और व्यवहारमें, सकल और निकलमें, सम्यग्‌दर्शन और निःशंकित अंगमें तथा सामान्य और विशेष आदिमें क्या अन्तर है?

(३) अणुव्रतीका आत्मा, आत्महित, चेतन द्रव्य. निराकुल दशा अथवा स्थान, सात तत्त्व, उनका सार, धर्मका मूल, सर्वोत्तम धर्म, सम्यग्दृष्टिको नमस्कारके अयोग्य तथा हेय–उपादेय तत्त्वोंके नाम बतलाओ।

(४) अघातिया, अंग, अजीव, अनायतन, अन्तरात्मा. अन्तरंग–परिग्रह, अमूर्तिक द्रव्य, आकाश, आत्मा, आस्रव, कर्म, कषाय, कारण, काल, कालद्रव्य, गंध, घातिया, जीवतत्त्व, द्रव्य, दुःखदायक भाव, द्रव्यकर्म, नोकर्म, परमात्मा, परिग्रह, पुद्‌गलके गुण, भावकर्म, प्रमाद, बहिरंग परिग्रह, मद, मिथ्यात्व, मूढ़ता, मोक्षमार्ग, योग, रूपी द्रव्य, रस, वर्ण, सम्यक्त्वके दोष और सम्यक्‌दर्शन–ज्ञान–चारित्रके भेद बतलाओ।

(५) तत्त्वज्ञान होने पर भी असयम. अव्रतीकी पूज्यता. आत्माके दुःख, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र तथा सम्यग्दृष्टिका कुदेवादिका नमस्कार न करना—आदिके कारण बतलाओ।

(६) अमूर्तिक द्रव्य, परमात्माके ध्यानसे लाभ, मुनिका आत्मा, मूर्तिक द्रव्य, मोक्षका स्थान और उपाय, बहिरात्मपनेके त्यागका कारण; सच्चे सुखका उपाय और सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति न होनेवाले स्थान—इनका स्पष्टीकरण करो।

(७) अमुक पद, चरण अथवा छन्दका अर्थ तथा भावार्थ बतलाओ; तीसरी ढालका सारांश सुनाओ। आत्मा, मोक्षमार्ग, जीव छह द्रव्य और सम्यक्त्वके दोष पर लेख लिखो।

चौथी ढाल

सम्यग्ज्ञानका लक्षण और उसका समय

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(सम्यक् श्रद्धा) सम्यग्दर्शन (धारि) धारण करके (पुनि) फिर (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञानका (सेवहु) सेवन करो; [जो सम्यग्ज्ञान] (बहु धर्मजुत) अनेक धर्मात्मक (स्व-पर अर्थ) अपना और दूसरे पदार्थोंका (प्रगटावन) ज्ञान करानेमें (भान) सूर्य समान है।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञानको दृढ़ करना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थोंको तथा स्वयं अपनेको यथावत् दर्शाता है, उसीप्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपनेको (आत्माको) तथा पर पदार्थोंको[1] ज्योंका त्यों बतलाता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

---

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्।

(प्रमेयरत्नमाला, प्र० उ० सूत्र-१)

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अन्तर
(रोला छन्द)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ,
लक्षण श्रद्धा जान, दुहूमें भेद अबाधौ।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई;
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई॥२॥

अन्वयार्थः—(सम्यक् साथै) सम्यग्दर्शनके साथ (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (होय) होता है (पै) तथापि [उन दोनोंको] (भिन्न) भिन्न (अराधौ) समझना चाहिये; क्योंकि (लक्षण) उन दोनोंके लक्षण [क्रमशः] (श्रद्धा) श्रद्धा करना और (जान) जानना है तथा (सम्यक्) सम्यग्दर्शन (कारण) कारण है और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (कारज) कार्य है। (सोई) यह भी (दुहूमें) दोनोंमें (भेद) अन्तर (अबाधौ) निर्बाध है। [जिस प्रकार] (युगपत्) एकसाथ (होते हू) होने पर भी (प्रकाश) उजाला (दीपकतैं) दीपककी ज्योतिसे (होई) होता है उसीप्रकार।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एकसाथ प्रगट होते हैं तथापि वे दोनों भिन्न-भिन्न गुणोंकी पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन

श्रद्धागुणकी शुद्धपर्याय है और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुणकी शुद्धपर्याय है। पुनश्च, सम्यग्दर्शनका लक्षण विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धा है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण संशय* आदि दोष रहित स्व-परका यथार्थतया निर्णय है—इस प्रकार दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

तथा सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है—इस प्रकार उन दोनोंमें कारण-कार्यभावसे भी अन्तर है।

प्रश्नः—ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् (एकसाथ) होते हैं, तो उनमें कारण-कार्यपना क्यों कहते हो?

उत्तरः—"वह हो तो वह होता है"—इस अपेक्षासे कारण-कार्यपना कहा है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिये दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसीप्रकार ज्ञान-श्रद्धान भी हैं।

(मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ १२६)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तकका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।—ऐसा होनेसे सम्यग्दर्शन वह सम्यग्ज्ञानका कारण है।×

---

* संशय, विमोह, (विभ्रम-विपर्यय) अनिर्धार।

× पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो, नानात्वं संभवत्यनयोः ॥ ३२ ॥

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥ ३३ ॥

कारणकार्यविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥ ३४ ॥

—(श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवरचित पुरुषार्थसिद्धि-उपाय)

सम्यग्ज्ञानके भेद, परोक्ष और देशप्रत्यक्षके लक्षण

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन मांहीं;
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा;
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(तास) उस सम्यग्ज्ञानके (परोक्ष) परोक्ष और (परतछि) प्रत्यक्ष (दो) दो (भेद हैं) भेद हैं; (तिन मांहीं) उनमें (मति श्रुत) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (दोय) यह दोनों (परोक्ष) परोक्षज्ञान हैं। [क्योंकि वे] (अक्ष मनतैं) इन्द्रियों तथा मनके निमित्तसे (उपजाहीं) उत्पन्न होते हैं। (अवधिज्ञान) अवधिज्ञान और (मनपर्जय) मनःपर्ययज्ञान (दो) यह दोनों ज्ञान (देश-प्रतच्छा) देशप्रत्यक्ष (हैं) हैं; [क्योंकि उन ज्ञानोंसे] (जिय) जीव (द्रव्य क्षेत्र परिमाण) द्रव्य और क्षेत्रकी मर्यादा (लिये) लेकर (स्वच्छा) स्पष्ट (जानै) जानता है।

भावार्थः—इस सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष; उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [1]परोक्षज्ञान हैं, क्योंकि वे दोनों ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके निमित्तसे वस्तुको अस्पष्ट जानते हैं। सम्यक्मति-श्रुतज्ञान स्वानुभवकालमें प्रत्यक्ष होते हैं, उनमें इन्द्रिय

१. जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके निमित्तसे वस्तुको अस्पष्ट जानता है उसे परोक्षज्ञान कहते हैं।

और मन निमित्त नहीं हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान [1]देशप्रत्यक्ष हैं, क्योंकि जीव इन दो ज्ञानोंसे रूपी द्रव्यको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है।

सकल-प्रत्यक्ष ज्ञानका लक्षण और ज्ञानकी महिमा

सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।
ज्ञान समान न आन जगतमें सुखकौ कारन,
इहि परमामृत जन्मजरामृति-रोग-निवारन ॥ ४ ॥

---

१. जो ज्ञान रूपी वस्तुको द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावकी मर्यादा पूर्वक स्पष्ट जानता है उसे देशप्रत्यक्ष कहते हैं।

अन्वयार्थः—[जिस ज्ञानसे] (केवलि भगवन्ता) केवलज्ञानी भगवान (सकल द्रव्यके) छहों द्रव्योंके (अनन्त) अपरिमित (गुन) गुणोंको और (अनन्ता) अनन्त (परजाय) पर्यायोंको (एकै काल) एक साथ (प्रगट) स्पष्ट (जानै) जानते हैं [उस ज्ञानको] (सकल) सकलप्रत्यक्ष अथवा केवलज्ञान कहते हैं। (जगतमें) इस जगतमें (ज्ञान समान) सम्यग्ज्ञान जैसा (आन) दूसरा कोई पदार्थ (सुखकौ) सुखका (न कारन) कारण नहीं है। (इहि) यह सम्यग्ज्ञान ही (जन्मजरामृति-रोग-निवारन) जन्म, जरा [वृद्धावस्था] और मृत्युरूपी रोगोंको दूर करनेके लिये (परमामृत) उत्कृष्ट अमृत समान है।

भावार्थः—(१) जो ज्ञान तीनकाल और तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थों (अनन्तधर्मात्मक सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायोंको) प्रत्येक समयमें यथास्थित, परिपूर्णरूपसे स्पष्ट और एकसाथ जानता है उस ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। जो सकलप्रत्यक्ष है।

(२) द्रव्य, गुण और पर्यायोंको केवली भगवान जानते हैं, किन्तु उनके अपेक्षित धर्मोंको नहीं जान सकते ऐसा मानना असत्य

है। तथा वे अनन्तको अथवा मात्र अपने आत्माको ही जानते हैं, किन्तु सर्वको नहीं जानते—ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है। केवली भगवान सर्वज्ञ होनेसे अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक वस्तुको प्रत्यक्ष जानते हैं।

(–लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न–८७)

(३) इस संसारमें सम्यग्ज्ञानके समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्युरूपी तीन रोगोंका नाश करनेके लिये उत्तम अमृत समान है।

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मनाशके विषयमें अन्तर

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ ॥ ५॥
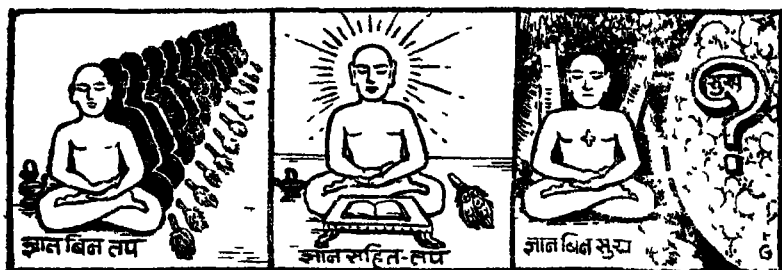
अन्वयार्थः—[अज्ञानी जीवको] (ज्ञान बिना) सम्यग्ज्ञानके बिना (कोटि जन्म) करोड़ों जन्मों तक (तप तपें) तप करनेसे (जे कर्म) जितने कर्म (झरें) नाश होते हैं (ते) उतने कर्म

(ज्ञानीके) सम्यग्ज्ञानी जीवके (त्रिगुप्ति तैं) मन, वचन और कायकी ओरकी प्रवृत्तिको रोकनेसे [निर्विकल्प शुद्ध स्वभावसे] (छिनमें) क्षणमात्रमें (सहज) सरलतासे (टरैं) नष्ट हो जाते हैं। [यह जीव] (मुनिव्रत) मुनियोंके महाव्रतोंको (धार) धारण करके (अनन्तबार) अनन्तबार (ग्रीवक) नववें ग्रैवेयक तक (उपजायो) उत्पन्न हुआ, (पै) परन्तु (निज आतम) अपने आत्माके (ज्ञान बिना) ज्ञान बिना (लेश) किंचित्‌मात्र (सुख) सुख (न पायो) प्राप्त न कर सका।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मों–भवों तक बालतपरूप उद्यम करके जितने कर्मोंका नाश करता है उतने कर्मोंका नाश सम्यग्ज्ञानी जीव—स्वोन्मुख ज्ञातापनेके कारण स्वरूपगुप्तिसे—क्षणमात्रमें सहज ही कर डालता है। यह जीव, मुनिके (द्रव्यलिंगी मुनिके) महाव्रतोंको धारण करके उनके प्रभावसे नववें ग्रैवेयक तकके विमानमें अनन्तबार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्माके भेदविज्ञान (सम्यग्ज्ञान अथवा स्वानुभव) के बिना जीवको वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।

ज्ञानके दोष और मनुष्यपर्याय आदिकी दुर्लभता

तातैं जिनवर–कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यौं उदधि समानी ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(तातैं) इसलिये (जिनवर-कथित) जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए (तत्त्व) परमार्थ तत्त्वका (अभ्यास) अभ्यास (करीजे) करना चाहिये और (संशय) संशय (विभ्रम) विपर्यय तथा (मोह) अनध्यवसाय [अनिश्चितता] को (त्याग) छोड़कर (आपो) अपने आत्माको (लख लीजे) लक्षमें लेना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये। [यदि ऐसा नहीं किया तो] (यह) यह (मानुष

पर्याय) मनुष्य भव (सुकुल) उत्तम कुल और (जिनवानी) जिनवाणीका (सुनिवौ) सुनना (इह विध) ऐसा सुयोग (गये) बीत जाने पर, (उदधि) समुद्रमें (समानी) समाये–डूबे हुए (सुमणि ज्यों) सच्चे रत्नकी भाँति [पुनः] (न मिलै) मिलना कठिन है ।

भावार्थः—आत्मा और परवस्तुओंके भेदविज्ञानको प्राप्त करनेके लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वोंका पठन–पाठन (मनन) करना चाहिये; और संशय[1] विपर्यय[2] तथा अनध्यवसाय[3] इन सम्यग्ज्ञानके तीन दोषोंको दूर करनेके आत्मस्वरूपको जानना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार समुद्रमें डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसी प्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावककुल और जिनवचनोंका श्रवण आदि सुयोग भी बीत जानेके बाद पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते । इसलिये यह अपूर्व अवसर न गँवाकर आत्मस्वरूपकी पहिचान । (सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति) करके यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिये ।

---

१ संशयः—विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः = " इस प्रकार है अथवा इस प्रकार ? "—ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं ।

२ विपर्ययः—विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः = वस्तुस्वरूपसे विरुद्धता पूर्वक " यह ऐसा ही है "—इस प्रकार एकरूप ज्ञानका नाम विपर्यय है । उसके तीन भेद हैं—कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेदविपर्यय । (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० १२३)

३ अनध्यवसायः—किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः = ' कुछ है '–ऐसा निर्णयरहित विचार सो अनध्यवसाय है ।

सम्यग्ज्ञानकी महिमा और कारण

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै ।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(धन) पैसा, (समाज) परिवार, (गज) हाथी, (बाज) घोड़ा, (राज) राज्य (तो) तो (काज) अपने काममें (न आवै) नहीं आते; किन्तु (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (आपको रूप) आत्माका स्वरूप—[जो] (भये) प्राप्त होनेके (फिर) पश्चात् (अचल) अचल (रहावै) रहता है । (तास) उस (ज्ञानको) सम्यग्ज्ञानका (कारन) कारण (स्व-पर विवेक) आत्मा और पर-वस्तुओंका भेदविज्ञान (बखानौ) कहा है, [इसलिये] (भव्य) हे भव्य जीवो ! (कोटि) करोड़ों (उपाय) उपाय (बनाय) करके (ताको) उस भेदविज्ञानको (उर आनौ) हृदयमें धारण करो ।

भावार्थः—धन-सम्पत्ति, परिवार, नौकर-चाकर, हाथी, घोड़ा तथा राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्माको सहायक नहीं होते; किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्माका स्वरूप है; वह एकबार प्राप्त होनेके पश्चात् अक्षय

हो जाता है—कभी नष्ट नहीं होता, अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओंका भेदविज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञानका कारण है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीवको करोड़ों उपाय करके उस भेदविज्ञानके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानकी महिमा और विषयेच्छा रोकनेका उपाय

जे पूरब शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(पूरब) पूर्वकालमें (जे) जो जीव (शिव) मोक्षमें (गये) गये हैं, [वर्तमानमें] (जाहिं) जा रहे हैं (अरु) और (आगे) भविष्यमें (जैहैं) जायेंगे (सो) वह (सब) सब (ज्ञान-तनी) सम्यग्ज्ञानकी (महिमा) महिमा है—ऐसा (मुनिनाथ) जिनेन्द्रदेवने कहा है। (विषय-चाह) पाँच इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छारूपी (दव-दाह) भयङ्कर दावानल (जगत-जन) संसारी जीवोंरूपी (अरनि) अरण्य—पुराने वनको (दझावै) जला रहा है, (तास) उसकी शान्तिका (उपाय) उपाय (आन) दूसरा (न) नहीं है; [मात्र] (ज्ञान-घनघान) ज्ञानरूपी वर्षाका समूह (बुझावै) शान्त करता है।

भावार्थः—भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनोंकालमें जो जीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं, होंगे और (वर्तमानमें विदेह-क्षेत्रमें) हो रहे हैं; वह इस सम्यग्ज्ञानका ही प्रभाव है।—ऐसा सर्वोचारोंने कहा है। जिसप्रकार दावानल (वनमें लगी हुई अग्नि) वहाँकी समस्त वस्तुओंको भस्म कर देता है, उसीप्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयोंकी इच्छा संसारी जीवोंको जलाती है—दुःख देती है; और जिसप्रकार वर्षाकी झड़ी उस दावानलको बुझा देता है उसीप्रकार यह सम्यग्ज्ञान उन विषयोंको शान्त कर देता है—नष्ट कर देता है।

पुण्य-पापमें हर्ष-विषादका निषेध और तात्पर्यकी बात

पुण्य—पाप—फलमाहिं, हरख बिलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(भाई) हे आत्मार्थी प्राणी ! (पुण्य-फलमांहि) पुण्यके फलमें (हरख मत) हर्ष न कर, और (पाप फलमांहि) पापके फलमें (बिलखौ मत) द्वेष न कर [क्योंकि यह पुण्य और पाप] (पुद्गल परजाय) पुद्गलकी पर्यायें हैं। [वे] (उपजि) उत्पन्न होकर (विनसै) नष्ट हो जाती हैं और (फिर) पुनः (थाई) उत्पन्न होती हैं। (उर) अपने अन्तरमें (निश्चय) निश्चयसे—वास्तवमें (लाख बातकी बात) लाखों बातोंका सार (यही) इसी प्रकार (लाओ) ग्रहण करो कि (सकल) पुण्य–पापरूप समस्त

(जग-दंदफंद) जन्म-मरणके द्वन्द [राग-द्वेष] रूप विकारी-मलिन भाव (तोरि) तोड़कर (नित) सदैव (आतम ध्याओ) अपने आत्माका ध्यान करो।

भावार्थः—आत्मार्थी जीवका कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि पुण्यके फल हैं, उनसे अपनेको लाभ है तथा उनके वियोगसे अपनेको हानि है—ऐसा न माने; क्योंकि पर-पदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र हैं, उनमें किसीको अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट-अनिष्ट मानना वह मात्र जीवकी भूल है; इसलिये पुण्य-पापके फलमें हर्ष शोक नहीं करना चाहिये।

यदि किसी भी परपदार्थको जीव भला या बुरा माने तो उसके प्रति राग या द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसने परपदार्थ—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको वास्तवमें हितकर तथा अहितकर माना है उसने अनन्त परपदार्थोंको राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त पर पदार्थ मुझे सुख-दुःखके कारण हैं ऐसा भी माना है; इसलिये वह भूल छोड़कर निज ज्ञानानंद स्वरूपका निर्णय करके स्वोन्मुख ज्ञाता रहना ही सुखी होनेका उपाय है।

पुण्य-पापका बन्ध वह पुद्गलकी पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं, उनके उदयमें जो संयोग प्राप्त हों वे भी क्षणिक संयोगरूपसे आते-जाते हैं, जितने काल तक वे निकट रहें उतने काल भी वे सुख-दुःख देनेमें समर्थ नहीं हैं।

जैनधर्मके समस्त उपदेशका सार यही है कि—शुभाशुभभाव वह संसार है; इसलिये उसकी रुचि छोड़कर, स्वोन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निजआत्मस्वरूपमें एकाग्र (लीन) होना

ही जीवका कर्तव्य है।

सम्यक्चारित्रका समय और भेद तथा अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रतका लक्षण

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजे;
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजे।
त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न सँहारै;
पर-वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै ॥ १० ॥
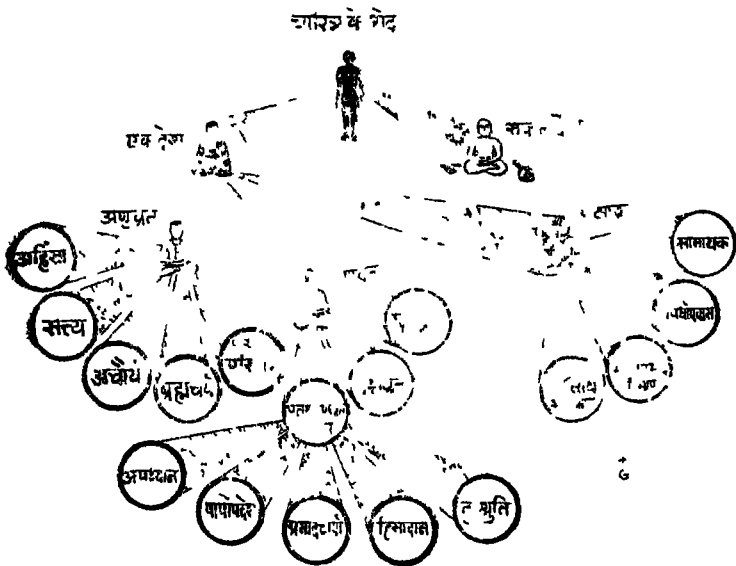
अन्वयार्थः—(सम्यग्ज्ञानी) सम्यग्ज्ञानी (होय) होकर

(बहुरि) फिर (दिढ़) दृढ़ (चारित) सम्यक्चारित्र (लीजै) का पालन करना चाहिये; (तसु) उसके [उस सम्यक्चारित्रके] (एकदेश) एकदेश (अरु) और (सकलदेश) सर्वदेश [ऐसे दो] (भेद) भेद (कहीजै) कहे गये हैं। [उनमें] (त्रसहिंसाको) त्रस जीवोंकी हिंसाका (त्याग) त्याग करना और (वृथा) बिना कारण (थावर) स्थावर जीवोंका (न संहारै) घात न करना [वह अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है] (पर वधकार) दूसरोंको दुःखदायक, (कठोर) कठोर [और] (निंद्य) निंद्यनीय (वयन) वचन (नहिं उचारै) न बोलना [वह सत्य-अणुव्रत कहलाता है]।

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सम्यक्चारित्र प्रगट करना चाहिये। उस सम्यक्चारित्रके दो भेद हैं—(१) एकदेश (अणु, देश, स्थूल) चारित्र और (२) सर्वदेश (सकल, महा, सूक्ष्म) चारित्र। उनमें सकल चारित्रका पालन मुनिराज करते हैं और देश-चारित्रका पालन श्रावक करते हैं। इस चौथी ढालमें देशचारित्रका वर्णन किया गया है। सकलचारित्रका वर्णन छठवीं ढालमें किया जायेगा। त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका सर्वथा त्याग करके निष्प्रयोजन स्थावर जीवोंका घात न करना सो *अहिंसा अणुव्रत है। दूसरेके प्राणोंको घातक, कठोर तथा निंद्यनीय वचन न बोलना [तथा दूसरोंसे न बुलवाना, न अनुमोदना सो सत्य-अणुव्रत है]।

---

* टिप्पणीः—(१) अहिंसाणुव्रतका धारण करनेवाला जीव "यह जीव घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ"–इस प्रकार संकल्प सहित किसी त्रस जीवकी संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रतका धारी आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधिनी हिंसाका त्यागी नहीं होता।

अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत तथा दिग्व्रतका लक्षण

जल-मृतिका विन और नाहिं कछु गहै अदत्ता;
निज वनिता बिन सकल नारिसौं रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;
दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै ॥ ११ ॥
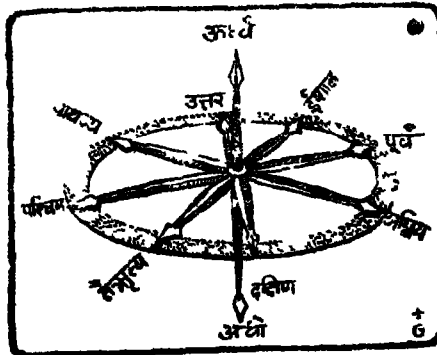
अन्वयार्थः—(जल-मृतिका विन) पानी और मिट्टीके अतिरिक्त (और कछु) अन्य कोई वस्तु (अदत्ता) बिना दिये (नाहिं)

---

(२) प्रमाद और कषायमें युक्त होनेसे जहाँ प्राणघात किया जाता है वहीं हिंसाका दोष लगता है; जहाँ वैसा कारण नहीं है वहाँ प्राणघात होने पर भी हिंसाका दोष नहीं लगता। जिसप्रकार—प्रमादरहित मुनि गमन करते हैं; वैद्य डॉक्टर करुणाबुद्धिपूर्वक रोगीका उपचार करते हैं; वहाँ सामनेवालेका प्राणघात होने पर भी हिंसाका दोष नहीं है।

(३) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक पहले दो कषायोंका अभाव हुआ हो उस जीवको सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रतको सर्वज्ञदेवने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।

नहीं (ग्रहे) लेना [इसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं] (निज) अपनी (वनिता बिन) स्त्रीके अतिरिक्त (सकल नारि सौं) अन्य सर्व स्त्रियोंसे (विरत्ता) विरक्त (रहे) रहना [वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है] (अपनी) अपनी (शक्ति विचार) शक्तिका विचार करके (परिग्रह) परिग्रह (थोरो) मर्यादित (राखे) रखना [सो परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है] (दस दिश) दस दिशाओंमें (गमन) जाने-आनेकी (प्रमाण) मर्यादा (ठान) रखकर (तसु) उस (सीम) सीमाका (न नाखे) उल्लंघन न करना [सो दिग्व्रत है]।

भावार्थः—जन-समुदायके लिये जहाँ रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्तिका स्वामित्व न हो—ऐसी पानी तथा मिट्टी जैसी वस्तुके अतिरिक्त पराई वस्तु (जिस पर अपना स्वामित्व न हो) उसके स्वामीके दिये बिना न लेना [तथा उठाकर दूसरेको न देना] उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं। अपनी विवाहित स्त्रीके सिवा अन्य सर्व स्त्रियोंसे विरक्त रहना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। [पुरुषको चाहिये कि अन्य स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्री समान माने, तथा स्त्रीको चाहिये कि अपने स्वामीके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंको पिता, भाई तथा पुत्र समान समझे]।

अपनी शक्ति और योग्यताका ध्यान रखकर जीवनपर्यन्तके लिये धन-धान्यादि बाह्य-परिग्रहका परिमाण (मर्यादा) बांधकर उससे अधिककी इच्छा न करे उसे *परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं।

---

* टिप्पणी—(१) यह पांच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण) अणुव्रत हैं। हिंसादिकको लोकमें भी पाप माना जाता है; उनका इन व्रतोंमें एकदेश (स्थूलरूपसे) त्याग किया गया है; इसी कारण वे अणुव्रत कहलाते हैं।

दसों दिशाओंमें जाने-आनेकी मर्यादा निश्चित करके जीवनपर्यन्त उसका उल्लंघन न करना सो दिग्व्रत है। दिशाओंकी मर्यादा निश्चित की जाती है इसलिये उसे दिग्व्रत कहा जाता है।

देशव्रत (देशावगाशिक) नामक गुणव्रतका लक्षण

ताहूमें फिर ग्राम गली, गृह बाग बजारा;
गमनागमन प्रमाण ठान अन, सकल निवारा ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(फिर) फिर (ताहूमें) उसमें [किन्हीं प्रसिद्ध-प्रसिद्ध] (ग्राम) गाँव (गली) गली (गृह) मकान (बाग) उद्यान तथा (बजारा) बाजार तक (गमनागमन) जाने-आनेका (प्रमाण) माप (ठान) रखकर (अन) अन्य (सकल) सबका (निवारा) त्याग करना [उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिक व्रत कहते हैं]।

भावार्थः—दिग्व्रतमें जीवनपर्यन्त की गई जाने-आनेके क्षेत्रकी मर्यादामें भी (घड़ी, घण्टा, दिन, महीना आदि कालके नियमसे) किसी प्रसिद्ध ग्राम, मार्ग, मकान तथा बाजार तक जाने-आनेकी मर्यादा करके उससे आगेकी सीमामें न जाना सो देशव्रत कहलाता है। ११। (पूर्वार्द्ध)

अनर्थदंडव्रतके भेद और उनका लक्षण

काहूकी धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
देय न सो उपदेश, होय अघ वनज कृषी तैं ॥ १२ ॥
(उत्तरार्द्ध)

---

(२) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथम दो कषायोंका अभाव हुआ हो उस जीवको सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रतोंको सर्वज्ञने (अज्ञानव्रत) कहा है।

कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै;
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
और हु अनरथ दंड, हेतु अघ तिन्हें न कीजै ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—१-(काहूकी) किसीके (धनहानि) धनके नाशका, (किसो) किसीकी (जय) विजयका [अथवा] (हार) किसीकी हारका (न चिन्तं) विचार न करना [उसे अपध्यान-अनर्थदंडव्रत कहते हैं।] २-(वनज) व्यापार और (कृषो तैं) खेतीसे (अघ) पाप (होय) होता है; इसलिये (सो) उसका (उपदेश) उपदेश (न देय) न देना [उसे पापोपदेश-अनर्थदंड-व्रत कहा जाता है।] ३-(प्रमाद कर) प्रमादसे [बिना प्रयोजन] (जल) जलकायिक, (भूमि) पृथ्वीकायिक, (वृक्ष) वनस्पति-कायिक, (पावक) अग्निकायिक [और वायुकायिक] जीवोंका (न विराधं) घात न करना [सो प्रमादचर्या-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।] ४-(असि) तलवार, (धनु) धनुष्य, (हल) हल [आदि] (हिंसोपकरण) हिंसा होनेमें कारणभूत पदार्थोंको (दे) देकर (यश) यश (नहिं लाधै) न लेना [सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत

कहलाता है।] ५-(राग-द्वेष-करतार) राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली (कथा) कथायें (कबहूँ) कभी भी (न सुनोजे) नहीं सुनना [सो दुःश्रुति अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।] (और हु) तथा अन्य भी (अघहेतु) पापके कारण (अनरथ दंड) अनर्थदंड हैं (तिन्हें) उन्हें भी (न कीजे) नहीं करना चाहिये।

भावार्थः—किसीके धनका नाश, पराजय अथवा विजय आदिका विचार न करना सो पहला अपध्यान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।*

(१) हिंसारूप पापजनक व्यापार तथा खेती आदिका उपदेश न देना वह पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

(२) प्रमादवश होकर पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना—इत्यादिका त्याग करना अर्थात् पांच स्थावर-कायके जीवोंकी हिंसा न करना उसे प्रमादचर्या-अनर्थदंडव्रत कहते हैं।

(३) यश प्राप्तिके लिये, किसीके माँगनेपर हिंसाके कारणभूत हथियार न देना सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(४) राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा और उपन्यास या शृंगारिक कथाओंके श्रवणका त्याग करना सो दुःश्रुति-अनर्थदंडव्रत कहलाता है ॥ १३ ॥

---

* अनर्थदंड दूसरे भी बहुतसे हैं। पाँच तो स्थूलताकी अपेक्षासे अथवा दिग्दर्शनमात्र हैं। वे सब पापजनक हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये। पापजनक निष्प्रयोजन कार्य अनर्थदंड कहलाता है।

निश्चयसम्यग्दर्शन—ज्ञानपूर्वक, पहले दो कषायोंका अभाव हुआ हो उस जीवको सच्चे अणुव्रत होते हैं, निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रतको सर्वज्ञदेवने बालव्रत कहा है।

सामायिक, प्रोषध, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये,
परव चतुष्टयमांहि, पाप तज प्रोषध धरिये;
भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै,
मुनिको भोजन देय फेर, निज करहि अहारै ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(उर) मनमें (समताभाव) निर्विकल्पता अर्थात् शल्यके अभावको (धर) धारण करके (सदा) हमेशा (सामायिक)

सामायिक (करिये) करना [सो सामायिक शिक्षाव्रत है;] (परब चतुष्टयमांहि) चार पर्वके दिनोंमें (पाप) पापकार्योंको छोड़कर (प्रोषध) प्रोषधोपवास (धरिये) करना [सो प्रोषधउपवास शिक्षाव्रत है;] (भोग) एकबार भोगा जा सके ऐसी वस्तुओंका तथा (उपभोग) बारम्बार भोगा जा सके ऐसी वस्तुओंका (नियमकरि) परिमाण करके—मर्यादा रखकर (ममत) मोह (निवारै) छोड़ दे [सो भोग-उपभोगपरिमाणव्रत है;] (मुनिको) वीतरागी मुनिको (भोजन) आहार (देय) देकर (फेर) फिर (निज आहारै) स्वयं भोजन करे [सो अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है ।]

भावार्थः—स्वोन्मुखता द्वारा अपने परिणामोंको स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना सो सामायिक शिक्षाव्रत है । १ । प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन कषाय और व्यापारादि कार्योंको छोड़कर (धर्मध्यानपूर्वक) प्रोषधसहित उपवास करना सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है । २ । परिग्रहपरिमाण–अणुव्रतमें निश्चय की हुई भोगोपभोगकी वस्तुओंमें जीवनपर्यंतके लिये अथवा किसी निश्चित समयके लिये नियम करना सो भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत कहलाता है । ३ । निर्ग्रंथ मुनि आदि सत्पात्रोंको आहार देनेके पश्चात् स्वयं भोजन करना सो अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है ॥ १४ ॥

निरतिचार श्रावकव्रत पालन करनेका फल

बारह व्रतके अतीचार, पन पन न लगावै;
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै;
यों श्रावक-व्रत पाल, स्वर्ग सोलह उपजावै;
तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि है शिव जावै ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—जो जीव (बारह व्रतके) बारह व्रतोंके (पन पन) पाँच-पाँच (अतिचार) अतिचारोंको (न लगावै) नहीं लगाता, और (मरण-समय) मृत्यु-कालमें (संन्यास) समाधि (धार) धारण करके (तसु) उनके (दोष) दोषोंको (नशावै) दूर करता है वह (यों) इस प्रकार (श्रावक व्रत) श्रावकके व्रत (पाल) पालन करके (सोलह) सोलहवें (स्वर्ग) स्वर्ग तक (उपजावै) उत्पन्न होता है, [और] (तहँतैं) वहाँसे (चय) मृत्य प्राप्त करके (नरजन्म) मनुष्यपर्याय (पाय) पाकर (मुनि) मुनि (ह्वै) होकर (शिव) मोक्ष (जावै) जाता है।

भावार्थः—जो जीव श्रावकके ऊपर कहे हुए बारह व्रतोंका विधिपूर्वक जीवनपर्यंत पालन करते हुए उनके पांच–पांच अतिचारोंको भी टालता है, और मृत्युकालमें पूर्वोपार्जित दोषोंका नाश करनेके लिये विधिपूर्वक समाधिमरण (*संल्लेखना) धारण करके उसके

* क्रोधादिके वश होकर विष, शस्त्र अथवा अन्नत्याग आदिसे प्राणत्याग किया जाना है उसे "आत्मघात" कहते हैं। 'संल्लेखना' में सम्यग्दर्शनसहित आत्मकल्याण (धर्म)के हेतुसे काया और कषायको कृश करते हुए सम्यक् आराधनापूर्वक समाधिमरण होता है, इसलिये वह आत्मघात नहीं किन्तु धर्मध्यान है।

पाँच अतिचारोंको भी दूर करता है वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। फिर देवायु पूर्ण होने पर मनुष्य भव पाकर, मुनिपद धारण करके मोक्ष (पूर्ण शुद्धता) प्राप्त करता है।

सम्यक्‌चारित्रकी भूमिकामें रहनेवाले रागके कारण वह जीव स्वर्गमें देवपद प्राप्त करता है; धर्मका फल संसारकी गति नहीं है किन्तु संवर-निर्जरारूप शुद्धभाव है; धर्मकी पूर्णता वह मोक्ष है।

चौथी ढालका सारांश

सम्यग्दर्शनके अभावमें जो ज्ञान होता है उसे कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहा जाता है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि यह दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ ही होते हैं; तथापि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं और कारण-कार्यभावका अन्तर है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका निमित्तकारण है।

स्वयंको और परवस्तुओंको स्वसन्मुखतापूर्वक यथावत् जाने वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; उसकी वृद्धि होने पर अन्तमें केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञानके अतिरिक्त सुखदायक वस्तु अन्य कोई नहीं है और वही जन्म, जरा तथा मरणका नाश करता है। मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्ज्ञानके बिना करोड़ों जन्म तक तप तपनेसे जितने कर्मोंका नाश होता है उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीवके त्रिगुप्तिसे क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकालमें जो जीव मोक्ष गये हैं; भविष्यमें जायेंगे और वर्तमानमें महाविदेह क्षेत्रसे जा रहे हैं—वह सब सम्यग्ज्ञानका प्रभाव है। जिसप्रकार मूसलाधार वर्षा वनकी भयङ्कर अग्निको क्षणमात्रमें बुझा देती है उसीप्रकार यह सम्यग्ज्ञान विषय-वासनाको क्षणमात्रमें नष्ट कर देता है।

पुण्य-पापके भाव वह जीवके चारित्रगुणकी विकारी (अशुद्ध) पर्यायें हैं; वे रहँटके घड़ोंकी भाँति उल्टी-सीधी होती रहती हैं; उन पुण्य-पापके फलोंमें जो संयोग प्राप्त होते हैं उनमें हर्ष-शोक करना मूर्खता है। प्रयोजनभूत बात तो यह है कि पुण्य-पाप, व्यवहार और निमित्तकी रुचि छोड़कर स्वोन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

आत्मा और परवस्तुओंका भेदविज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिये संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (तत्त्वार्थोंका अनिर्धार) का त्याग करके तत्त्वके अभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावक कुल और जिनवाणीका सुनना आदि सुयोग—जिसप्रकार समुद्रमें डूबा हुआ रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसीप्रकार—बारम्बार प्राप्त नहीं होता। ऐसा दुर्लभ सुयोग प्राप्त करके सम्यग्धर्म प्राप्त न करना मूर्खता है।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके *फिर सम्यक्चारित्र प्रगट करना चाहिये; वहाँ सम्यक्चारित्रकी भूमिकामें जो कुछ भी राग रहता है वह श्रावकको अणुव्रत और मुनिको पंचमहाव्रतके प्रकारका होता है; उसे सम्यग्दृष्टि पुण्य मानते हैं।

जो श्रावक निरतिचार समाधि-मरणको धारण करता है वह समता-पूर्वक आयु पूर्ण होनेसे योग्यतानुसार सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है, और वहाँसे आयु पूर्ण होने पर मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है; फिर मुनिपद प्रगट करके मोक्षमें जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक

---

* न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ॥

अर्थः—अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता, इसलिये चारित्रका आराधन ज्ञान होनेके पश्चात् कहा है।

(पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा-३८)

चारित्रका पालन करना यह प्रत्येक आत्मार्थी जीवका कर्तव्य है।

निश्चय सम्यक्चारित्र ही सच्चा चारित्र है ऐसी श्रद्धा करना, तथा उस भूमिकामें जो श्रावक और मुनिव्रतके विकल्प उठते हैं वह सच्चा चारित्र नहीं किंतु चारित्रमें होनेवाला दोष है; किंतु उस भूमिकामें वैसा राग आये बिना नहीं रहता और उस सम्यक्चारित्रमें ऐसा राग निमित्त होता है; उसे सहचर मानकर व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जाता है। व्यवहार सम्यक्चारित्रको सच्चा सम्यक्चारित्र माननेकी श्रद्धा छोड़ देना चाहिये।

चौथी ढालका भेद-संग्रह

कालः—निश्चयकाल और व्यवहारकाल; अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान।

चारित्रः—मोह-क्षोभरहित आत्माके शुद्ध परिणाम, भावलिंगी श्रावकपद तथा भावलिंगी मुनिपद।

ज्ञानके दोषः—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (अनिश्चितता)।

दिशाः—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, अग्निकोण, ऊर्ध्व और अधो-यह दस हैं।

पर्वचतुष्टयः—प्रत्येक मासकी दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी।

मुनिः—समस्त व्यापारसे विरक्त, चार प्रकारकी आराधनामें तल्लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह-ऐसे सर्व साधु होते हैं। (नियमसार गाथा-७६)। वे निश्चयसम्यग्दर्शन सहित, विरागी होकर, समस्त परिग्रहका त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके अन्तरंगमें शुद्धोपयोग

द्वारा अपने आत्माका अनुभव करते हैं। परद्रव्यमें अहंबुद्धि नहीं करते। ज्ञानादि स्वभावको ही अपना मानते हैं; परभावोंमें ममत्व नहीं करते। किसीको इष्ट–अनिष्ट मानकर उसमें राग–द्वेष नहीं करते। हिंसादि अशुभ उपयोगका तो उनके अस्तित्व ही नहीं होता। अनेक बार सातवें गुणस्थानके निर्विकल्प आनन्दमें लीन होते हैं। जब छठवें गुणस्थानमें आते हैं तब उन्हें अट्ठाईस मूलगुणोंको अखण्डितरूपसे पालन करनेका शुभ–विकल्प आता है। उन्हें तीन कषायोंके अभावरूप निश्चय–सम्यक्चारित्र होता है। भावलिंगी मुनिको सदा नग्न–दिगम्बर दशा होती है; उसमें कभी अपवाद नहीं होता। कभी भी वस्त्रादि सहित मुनि नहीं होते।

विकथाः—स्त्री, आहार, देश और राज्य—इन चारकी अशुभ–भावरूप कथा सो विकथा है।

श्रावकव्रतः—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत हैं।

रोगत्रयः—जन्म, जरा और मृत्यु।

हिंसाः—(१) वास्तवमें रागादि भावोंका प्रगट न होना सो अहिंसा है और रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है; ऐसा जैनशास्त्रोंका संक्षिप्त रहस्य है।

(२) संकल्पी, आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी यह चार; अथवा द्रव्यहिंसा और भावहिंसा—यह दो।

चौथी ढालका लक्षण-संग्रह

अणुव्रतः—(१) निश्चयसम्यग्दर्शनसहित चारित्रगुणकी आंशिक शुद्धि होनेसे (अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानीय कषायोंके अभावपूर्वक) उत्पन्न आत्माकी शुद्धिविशेषको देशचारित्र कहते हैं। श्रावकदशामें पाँच पापोंका स्थूलरूप—एकदेश त्याग होता है उसे अणुव्रत कहा जाता है।

अतिचारः—व्रतकी अपेक्षा रखने पर भी उसका एकदेश भङ्ग होना सो अतिचार है।

अनध्यवसायः—(मोह)—"कुछ है," किन्तु क्या है उसके निश्चयरहित ज्ञानको अनध्यवसाय कहते हैं।

अनर्थदंडः—प्रयोजनरहित मन, वचन, कायकी ओरकी अशुभ-प्रवृत्ति।

अनर्थदंडव्रतः—प्रयोजनरहित मन, वचन, कायकी ओरकी अशुभ-प्रवृत्तिका त्याग।

अवधिज्ञानः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान।

उपभोगः—जिसे बारम्बार भोगा जा सके ऐसी वस्तु।

गुणः—द्रव्यके आश्रयसे, उसके सम्पूर्ण भागमें तथा उसकी समस्त पर्यायोंमें सदैव रहे उसे गुण अथवा शक्ति कहते हैं।

गुणव्रतः—अणुव्रतोंको तथा मूलगुणोंको पुष्ट करनेवाला व्रत।

परः—आत्मासे (जीवसे) भिन्न वस्तुओंको पर कहा जाता है।

परोक्षः—जिसमें इन्द्रियादि परवस्तुएँ निमित्तमात्र हैं, ऐसे ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्षः—(१) आत्माके आश्रयसे होनेवाला अतीन्द्रिय ज्ञान है।
(२) अक्षप्रतिः—अक्ष = आत्मा अथवा ज्ञान;
प्रति = (आत्मयके) सन्मुख—निकट।
प्रति + अक्ष = आत्माके सम्बन्धमें हो ऐसा।

पर्यायः—गुणोंके विशेष कार्यको (परिणमनको) पर्याय कहते हैं।

भोगः—वह वस्तु जिसे एक ही बार भोगा जा सके।

मतिज्ञानः—(१) पराश्रयकी बुद्धि छोड़कर दर्शन-उपयोगपूर्वक स्वसन्मुखतासे प्रगट होनेवाले निज-आत्माके ज्ञानको मति-ज्ञान कहते हैं।
(२) इन्द्रियाँ और मन जिसमें निमित्तमात्र हैं ऐसे ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं।

महाव्रतः—हिंसादि पाँच पापोंका सर्वथा त्याग।
(निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान और वीतरागचारित्ररहित मात्र व्यवहारव्रतके शुभभावको महाव्रत नहीं कहा है किन्तु बालव्रत-अज्ञानव्रत कहा है।

मनःपर्ययज्ञानः—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादासे दूसरेके मनमें रहे हुए सरल अथवा गूढ़ रूपी पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान।

केवलज्ञानः—जो तीनकाल और तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थोंको (अनन्तधर्मात्मक *सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायोंको) प्रत्येक

---

* द्रव्य, गुण, पर्यायोंको केवलज्ञानी भगवान जानते हैं किन्तु उनके अपेक्षित धर्मोंको नहीं जान सकते—ऐसा मानना सो असत्य है। और वह अनन्तको अथवा मात्र आत्माको ही जानते हैं किन्तु

समयमें यथास्थित, परिपूर्णरूपसे स्पष्ट और एक साथ जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

विपर्ययः—विपरीत ज्ञान। जैसे कि—सीपको चाँदी जानना और चाँदीको सीप जानना। अथवा—शुभास्रवसे वास्तवमें आत्महित मानना; देहादि परद्रव्यको स्व-रूप मानना, अपनेसे भिन्न न मानना।

व्रतः—शुभकार्य करना और अशुभकार्यको छोड़ना सो व्रत है। अथवा हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पाँच पापोंसे भावपूर्वक विरक्त होनेको व्रत कहते हैं। व्रत सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् होते हैं और आंशिक वीतरागतारूप निश्चयव्रत सहित व्यवहारव्रत होते हैं।)

शिक्षाव्रतः—मुनिव्रत पालन करनेकी शिक्षा देनेवाला व्रत।

सर्वको नहीं जानते हैं ऐसा मानना भी न्यायसे विरुद्ध है। (लघु जैन सि. प्रवेशिका प्रश्न ८७, पृष्ठ २६) केवलज्ञानी भगवान क्षायोपशमिक ज्ञानवाले जीवोंकी भाँति अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप क्रमसे नहीं जानते किन्तु सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको युगपत् (एकसाथ) जानते हैं इसप्रकार उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष वर्तता है। (प्रवचनसार गाथा २१ की टीका-भावार्थ।) अति विस्तारसे बस होओ, अनिवारित (रोका न जा सके ऐसा-अमर्यादित) जिसका विस्तार है-ऐसे प्रकाशवाला होनेसे क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वको जानता है। (प्रवचनसार गाथा ४७ की टीका।)

टिप्पणीः—श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें निश्चित और क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं,—उलटी-सीधी नहीं होती।

श्रुतज्ञानः—(१) मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थोंके सम्बन्धमें अन्य पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। (२) आत्माकी शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञानको भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

संन्यासः—(संल्लेखना) आत्माका धर्म समझकर अपनी शुद्धताके लिये कषायोंको और शरीरको कृश करना (शरीरकी ओरका लक्ष छोड़ देना) सो समाधि अथवा संल्लेखना कहलाती है।

संशयः—विरोध सहित अनेक प्रकारोंका अवलम्बन करनेवाला ज्ञान; जैसे कि—यह सीप होगी या चाँदी? आत्मा अपना ही कार्य कर सकता होगा या परका भी? देव-गुरु-शास्त्र, जीवादि सात तत्त्व आदिका स्वरूप ऐसा ही होगा?—अथवा जैसा अन्य-मतमें कहा है वैसा? निमित्त अथवा शुभराग द्वारा आत्माका हित हो सकता है या नहीं?

चौथी ढालका अन्तर-प्रदर्शन

१–दिग्व्रतकी मर्यादा तो जीवनपर्यंतके लिये है; किन्तु देशव्रतकी मर्यादा घड़ी, घण्टा आदि नियत किये हुए समय तक की है।

२–परिग्रहपरिमाणव्रतमें परिग्रहका जितना प्रमाण (मर्यादा) किया जाता है उससे भी कम प्रमाण भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें किया जाता है।

३–प्रोषधमें तो आरम्भ और विषय-कषायादिका त्याग करने पर भी एकबार भोजन किया जाता है, उपवासमें तो अन्न-जल-खाद्य और स्वाद्य—इन चारों आहारोंका सर्वथा त्याग होता है। प्रोषध-उपवासमें आरम्भ, विषय-कषाय और चारों आहारोंका त्याग तथा उसके अगले दिन और पारणेके दिन अर्थात् अगले-पिछले दिन भी एकाशन किया जाता है।

४–भोग तो एक ही बार भोगने योग्य होता है किन्तु उपभोग बारम्बार भोगा जा सकता है। (आत्मा परवस्तुको व्यवहारसे भी नहीं भोग सकता; किन्तु मोह द्वारा, मैं इसे भोगता हूँ—ऐसा मानता है और तत्सम्बन्धी रागको, हर्ष–शोकको भोगता है। यह बतलानेके लिये उसका कथन करना सो व्यवहार है।)

चौथी ढालकी प्रश्नावली

१–अचौर्यव्रत, अणुव्रत, अतिचार, अतिथिसंविभाग, अनध्यवसाय, अनर्थदंड, अनर्थदंडव्रत, अपध्यान, अवधिज्ञान, अहिंसाणुव्रत, उपभोग, केवलज्ञान, गुणव्रत, दिग्व्रत, दुःश्रुति, देशव्रत, देशप्रत्यक्ष, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, परोक्ष, पापोपदेश, प्रत्यक्ष, प्रमादचर्या, प्रोषध उपवास, ब्रह्मचर्याणुव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत, भोग, मतिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, विपर्यय, व्रत, शिक्षाव्रत, श्रुतज्ञान, सकलप्रत्यक्ष, सम्यक्ज्ञान, सत्याणुव्रत, सामायिक, संशय, स्वस्त्रीसंतोषव्रत तथा हिंसादान आदिके लक्षण बतलाओ।

२–अणुव्रत, अनर्थदण्डव्रत, काल, गुणव्रत, देशप्रत्यक्ष, दिशा, परोक्ष, पर्व, पात्र, प्रत्यक्ष, विकथा, व्रत, रोगत्रय, शिक्षाव्रत सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञानके दोष और संल्लेखना दोष—आदिके भेद बतलाओ।

३–अणुव्रत, अनर्थदण्डव्रत, गुणव्रत—ऐसे नाम रखनेका कारण; अविचल ज्ञानप्राप्ति, ग्रैवेयक तक जाने पर भी सुखका अभाव, दिग्व्रत, देशव्रत, पापोपदेश—ऐसे नामोंका कारण, पुण्य–पापके फलमें हर्ष–शोकका निषेध, शिक्षाव्रत नामका कारण, सम्यग्ज्ञान, ज्ञान, ज्ञानोंकी परोक्षता–प्रत्यक्षता–देशप्रत्यक्षता और सकलप्रत्यक्षता आदिके कारण बतलाओ।

४–अणुव्रत और महाव्रतमें, दिग्व्रत और देशव्रतमें, परिग्रह-

परिमाणव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें, प्रोषध और उपवासमें तथा प्रोषधोपवासमें, भोग और उपभोगमें, यम और नियममें, ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मनाशमें तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें क्या अन्तर है वह बतलाओ।

५—अनध्यवसाय, मनुष्यपर्याय आदिकी दुर्लभता, विपर्यय, विषय-इच्छा, सम्यग्ज्ञान और संशयके दृष्टान्त दो।

६—अनर्थदण्डोंका पूर्ण परिमाण, अविचल सुखका उपाय, आत्मज्ञानकी प्राप्तिका उपाय, जन्म-मरण दूर करनेका उपाय, दर्शन और ज्ञानमें पहली उत्पत्ति; धनादिकसे लाभ न होना, निरतिचार श्रावकव्रत-पालनसे लाभ, ब्रह्मचर्याणुव्रतीका विचार, भेदविज्ञानकी आवश्यकता, मनुष्यपर्यायकी दुर्लभता तथा उसकी सफलताका उपाय, मरणसमयका कर्तव्य: वैद्य-डॉक्टरके द्वारा मरण हो तथापि अहिंसा, शत्रुका सामना करना—न करना, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान होनेका समय और उसकी महिमा, संल्लेखनाकी विधि और कर्तव्य, ज्ञानके बिना मुक्ति तथा सुखका अभाव, ज्ञानका फल तथा ज्ञानी-अज्ञानीका कर्मनाश और विषयोंकी इच्छाको शांत करनेका उपाय—आदिका वर्णन करो।

७—अचल रहनेवाला ज्ञान, अतिथिसंविभागका दूसरा नाम, तीन रोगोंका नाश करनेवाली वस्तु, मिथ्यादृष्टि मुनि, वर्तमानमें मुक्ति हो सके ऐसा क्षेत्र, व्रतधारीको प्राप्त होनेवाली गति, प्रयोजनभूत बात, सर्वको जाननेवाला ज्ञान और सर्वोत्तम सुख देनेवाली वस्तु—इनका नाम बतलाओ।

८—अमुक शब्द, चरण अथवा पद्यका अर्थ और भावार्थ बतलाओ। चौथी ढालका सारांश कहो।

९—अणुव्रत, दिग्व्रत, बारह व्रत, शिक्षाव्रत और देशचारित्रके सम्बन्धमें जो जानते हो वह समझाओ।

पाँचवीं ढाल

(चाल छन्द)

भावनाओंके चिंतवनका कारण, उसके अधिकारी और उसका फल

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(भाई) हे भव्य जीव! (सकलव्रती) महाव्रतोंके धारक (मुनि) भावलिंगी मुनिराज (बड़भागी) महान पुरुषार्थी हैं, क्योंकि वे (भव-भोगनतैं) संसार और भोगोंसे (वैरागी) विरक्त होते हैं और (वैराग्य) वीतरागताको (उपावन) उत्पन्न करनेके लिये (माई) माता समान (अनुप्रेक्षा) बारह भावनाओंका (चिन्तैं) चिंतवन करते हैं।

भावार्थः—पाँच महाव्रतोंको धारण करनेवाले भावलिंगी मुनिराज महापुरुषार्थवान हैं, क्योंकि वे संसार, शरीर और भोगोंसे अत्यन्त विरक्त होते हैं; और जिसप्रकार कोई माता पुत्रको

जन्म देती है उसीप्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं, इसलिये मुनिराज इन बारह भावनाओंका चिंतवन करते हैं।

भावनाओंका फल और मोक्षसुखकी प्राप्तिका समय

इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवनके लागै;
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै ॥ २ ॥

समसुख-प्रज्वलन
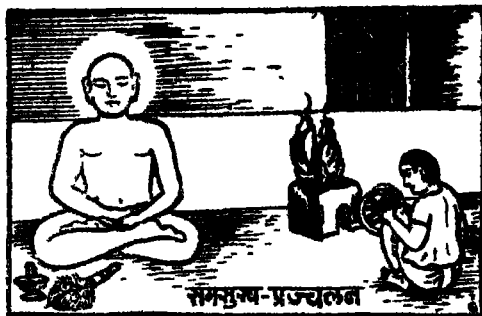
अन्वयार्थः—(जिमि) जिसप्रकार (पवनके) वायुके (लागै) लगनेसे (ज्वलन) अग्नि (जागै) भभक उठती है, [उसीप्रकार इन बारह भावनाओंका] (चिंतत) चिंतवन करनेसे (सम सुख) समतारूपी सुख (जागै) प्रगट होता है। (जब ही) जब (जिय) जीव (आतम) आत्मस्वरूपको (जानै) जानता है (तब ही) तभी (जीव) जीव (शिवसुख) मोक्षसुखको (ठानै) प्राप्त करता है।

भावार्थः—जिसप्रकार वायु लगनेसे अग्नि एकदम भभक उठती है, उसीप्रकार इन बारह भावनाओंका बारंबार चिंतवन करनेसे समता (शांति रूपी सुख प्रगट हो जाता है—बढ़ जाता है। जब यह जीव आत्मस्वरूपको जानता है तब पुरुषार्थ बढ़ाकर परपदार्थोंसे

सम्बन्ध छोड़कर परमानन्दमय स्वस्वरूपमें लीन होकर समतारसका पान करता है और अंतमें मोक्षसुख प्राप्त करता है । २ ।

[उन बारह भावनाओंका स्वरूप कहा जाता है—]

१—अनित्य भावना

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(जोबन) यौवन, (गृह) मकान, (गो) गाय-भैंस, (धन) लक्ष्मी, (नारी) स्त्री, (हय) घोड़ा, (गय) हाथी, (जन) कुटुम्ब, (आज्ञाकारी) नौकर-चाकर तथा (इन्द्रिय-भोग) पाँच इन्द्रियोंके भोग—यह सब (सुरधनु) इन्द्रधनुष तथा (चपला) बिजलीकी (चपलाई) चंचलता-क्षणिकताकी भाँति (छिन थाई) क्षणमात्र रहनेवाले हैं ।

भावार्थः—यौवन, मकान, गाय-भैंस, धन-सम्पत्ति, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पांच इन्द्रियोंके विषय-यह सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं—अनित्य हैं—नाशवान हैं । जिसप्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं, उसीप्रकार यह यौवनादि कुछ ही कालमें नाशको प्राप्त

होते हैं; वे कोई पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं; किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।

ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके, सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागताकी वृद्धि करता है वह "अनित्य भावना" है। मिथ्यादृष्टि जीवको अनित्यादि एक भी भावना यथार्थ नहीं होती ॥३॥

२—अशरण भावना

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते;
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ॥४॥

अन्वयार्थः—(सुर असुर खगाधिप) देवोंके इन्द्र, असुरोंके इन्द्र और खगेन्द्र [गरुड़, हंस] (जेते) जो—जो हैं (ते) उन सबका (मृग हरि ज्यों) जिसप्रकार हिरनको सिंह मार डालता है उसीप्रकार (काल) मृत्यु (दले) नाश करता है। (मणि) चिन्तामणि आदि मणिरत्न, (मंत्र) बड़े—बड़े रक्षामंत्र; (तंत्र) तंत्र, (बहु होई) बहुतसे होने पर भी (मरते) मरनेवालेको (कोई) वे कोई (न बचावै) नहीं बचा सकते।

भावार्थः—इस संसारमें जो–जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र (पक्षियोंके राजा) आदि हैं उन सबका—जिसप्रकार हिरनको सिंह मार डालता है उसीप्रकार—काल (मृत्यु) नाश करता है। चिंतामणि आदि मणि, मंत्र और जंत्र–तंत्रादि कोई भी मृत्युसे नहीं बचा सकता।

यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीवकी रक्षा कर सकनेमें समर्थ नहीं है, इसलिये परसे रक्षाकी आशा करना व्यर्थ है। सर्वत्र–सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है। आत्मा निश्चयसे मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादिअनन्त है;—ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागताकी वृद्धि करता है वह "अशरण भावना" है ॥ ४ ॥

३–संसार भावना

चहुँगति दुःख जीव भरै है, परिवर्तन पंच करै है;
सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगारा ॥ ५ ॥
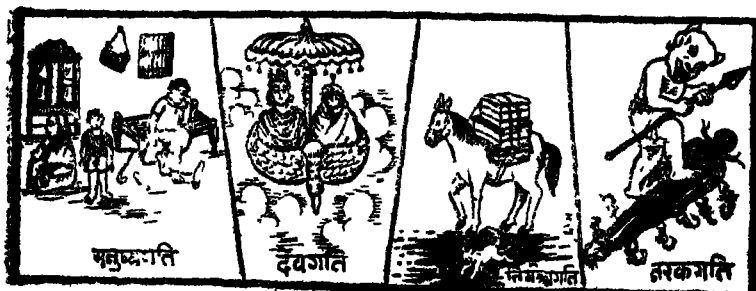
अन्वयार्थः—(जीव) जीव (चहुँगति) चार गतिमें (दुःख) दुःख (भरै है) भोगता है और (परिवर्तन पंच) पांच परावर्तन पाँच प्रकारसे परिभ्रमण (करै है) करता है। (संसार) संसार

(सर्वविधि) सर्व प्रकारसे (असारा) साररहित है, (यामें) इसमें (सुख) सुख (लगारा) लेशमात्र भी (नाहिं) नहीं है।

भावार्थः—जीवकी अशुद्ध पर्याय वह संसार है। अज्ञानके कारण जीव चार गतिमें दुःख भोगता है और पाँच (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव) परावर्तन करता रहता है किन्तु कभी शांति प्राप्त नहीं करता; इसलिये वास्तवमें संसारभाव सर्वप्रकारसे साररहित है, उसमें किंचितमात्र सुख नहीं है, क्योंकि जिसप्रकार सुखकी कल्पना की जाती है वैसा सुखका स्वरूप नहीं है और जिसमें सुख मानता है वह वास्तवमें सुख नहीं है—किन्तु वह परद्रव्यके आलम्बनरूप मलिनभाव होनेसे आकुलता उत्पन्न करनेवाला भाव है। निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुवस्वभावमें संसार है ही नहीं–ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागतामें वृद्धि करता है वह "संसार भावना" है॥ ५॥

४–एकत्व भावना

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एक हि ते ते;
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथके हैं भीरी॥ ६॥

अन्वयार्थः—(जेते) जितने (शुभ-करमफल) शुभकर्मके फल और (अशुभ-करमफल) अशुभकर्मके फल हैं (ते ते) वे सब (जिय) यह जीव (एक हि) अकेला ही (भोगै) भोगता है; (सुत) पुत्र (दारा) स्त्री (सीरी) साथ देनेवाले (न होय) नहीं होते। (सब) यह सब (स्वारथके) अपने स्वार्थके (भीरी) सगे (हैं) हैं।

भावार्थः—जीवका सदा अपने स्वरूपसे अपना एकत्व और परसे विभक्तपना है; इसलिये वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है—परका कुछ नहीं कर सकता। इसलिये जीव जो भी शुभ या अशुभ भाव करता है उनका फल (आकुलता) वह स्वयं अकेला ही भोगता है, उसमें अन्य कोई—स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब पर पदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीवको ज्ञेयमात्र हैं, इसलिये वे वास्तवमें जीवके सगे—सम्बन्धी हैं ही नहीं; तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दुःखी होता है। परके द्वारा अपना भला—बुरा होना मानकर परके साथ कर्तृत्व-ममत्वका अधिकार माना है; वह अपनी भूलसे ही अकेला दुःखी होता है।

संसारमें और मोक्षमें यह जीव अकेला ही है—ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्ध आत्माके साथ ही सदैव अपना एकत्व मानकर अपनी निश्चयपरिणति द्वारा शुद्ध एकत्वकी वृद्धि करता है, यह " एकत्व भावना " है ॥ ६ ॥

५—अन्यत्व भावना

जल—पय ज्यों जिय—तन मेला, पै भिन्न—भिन्न नहिं भेला;
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(जिय-तन) जीव और शरीर (जल-पय ज्यों) पानी और दूधकी भाँति (मेला) मिले हुए हैं (पै) तथापि (मेला) एकरूप (नहिं) नहीं हैं, (भिन्न भिन्न) पृथक्-पृथक् हैं, (तो) तो फिर (प्रगट) जो बाह्यमें प्रगटरूपसे (जुदे) पृथक् दिखाई देते हैं ऐसे (धन) लक्ष्मी, (धामा) मकान, (सुत) पुत्र और (रामा) स्त्री आदि (मिलि) मिलकर (इक) एक (क्यों) कैसे (ह्वै) हो सकते हैं ?

भावार्थः—जिसप्रकार दूध और पानी एक आकाश-क्षेत्रमें मिले हुए हैं, परन्तु अपने-अपने गुण आदिकी अपेक्षासे दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए-एकाकार दिखाई देते हैं तथापि वे दोनों अपने-अपने स्वरूपादिकी अपेक्षासे (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) बिलकुल पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूपसे भिन्न दिखाई देनेवाले ऐसे मोटरगाड़ी, धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते हैं ? अर्थात् स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है—इस प्रकार सर्व पदार्थोंको अपनेसे भिन्न जानकर,

स्वसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागताकी वृद्धि करता है, वह "अन्यत्व भावना" है ॥ ७ ॥

६—अशुचि भावना

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली,
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी ॥ ८ ॥
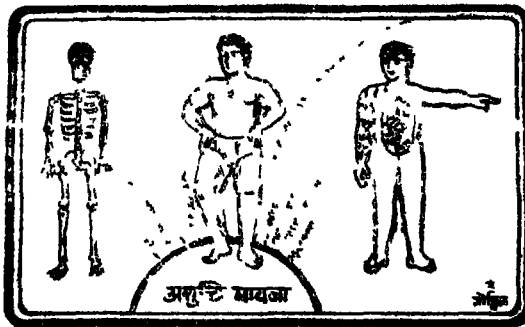
अन्वयार्थः—जो (पल) मांस (रुधिर) रक्त (राध) पीव और (मल) विष्टाकी (थैली) थैली है, (कीकस) हड्डी, (वसादितैं) चरबी आदिसे (मैली) अपवित्र है और जिसमें (घिनकारी) घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले (नव द्वार) नौ दरवाजे (बहैं) बहते हैं (अस) ऐसे (देह) शरीरमें (यारी) प्रेम-राग (किमि) कैसे (करे) किया जा सकता है?

भावार्थः—यह शरीर तो मांस, रक्त, पीव, विष्टा आदिकी थैली है और वह हड्डियां, चरबी आदिसे भरा होनेके कारण अपवित्र है; तथा नौ द्वारोंसे मैल बाहर निकलता है, ऐसे शरीरके प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है? यह शरीर ऊपरसे

तो मक्खीके पंख समान पतली चमड़ीमें मढ़ा हुआ है इसलिये बाहरसे सुन्दर लगता है, किन्तु यदि उसकी भीतरी हालतका विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं, इसलिये उसमें ममत्व, अहङ्कार या राग करना व्यर्थ है।

यहाँ शरीरको मलिन बतलानेका आशय—भेदज्ञान द्वारा शरीरके स्वरूपका ज्ञान कराके, अविनाशी निज पवित्र पदमें रुचि कराना है, किन्तु शरीरके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करानेका आशय नहीं। शरीर तो उसके अपने स्वभावसे ही अशुचिमय है; और यह भगवान आत्मा निजस्वभावसे ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्माकी सन्मुखता द्वारा अपनी पर्यायमें शुचिताकी (पवित्रताकी) वृद्धि करता है वह "अशुचि भावना" है ॥८॥

७-आस्रव भावना

जो योगनकी चपलाई तातैं है आस्रव भाई;
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे ॥९॥

अन्वयार्थः—(भाई) हे भव्य जीव! (योगनकी) योगोंकी (जो) जो (चपलाई) चंचलता है (तातैं) उससे (आस्रव)

आस्रव (है) होता है, और (आस्रव) वह आस्रव (घनेरे) अत्यन्त (दुखकार) दुःखदायक है, इसलिये (बुधिवन्त) बुद्धिमान (तिन्हें) उसे (निरवेरे) दूर करें।

भावार्थः—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी दशा जीवमें होती है वह भावआस्रव है; और उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणोंका स्वयं-स्वतः आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें आगमन होना) सो द्रव्यआस्रव है। [उसमें जीवकी अशुद्ध पर्यायें निमित्त-मात्र हैं।]

पुण्य और पाप दोनों आस्रव और बन्धके भेद हैं।

पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि शुभराग सरागी जीवको होते हैं, वे अरूपी अशुभ भाव हैं, और वह भावपुण्य है। तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणोंका स्वयं-स्वतः आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें आगमन होना) सो द्रव्यपुण्य है। उसमें जीवकी अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।]

पापः—हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं वह भावपाप है, और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलोंका आगमन होना सो द्रव्यपाप है। [उसमें जीवकी अशुद्ध पर्यायें निमित्त हैं।]

परमार्थसे (वास्तवमें) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्माको अहितकर हैं, तथा वह आत्माकी क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। द्रव्य पुण्य-पाप तो परवस्तु हैं वे कहीं आत्माका हित-अहित नहीं कर सकते !— ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीवको होता है; और इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्व-द्रव्यके अवलम्बनके बलसे जितने अंशमें आस्रवभावको दूर करता है उतने अंशमें उसे वीतरागताकी वृद्धि होती है —उसे "आस्रव भावना" कहते हैं ॥ ९ ॥

८—संवर भावना

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥ १० ॥
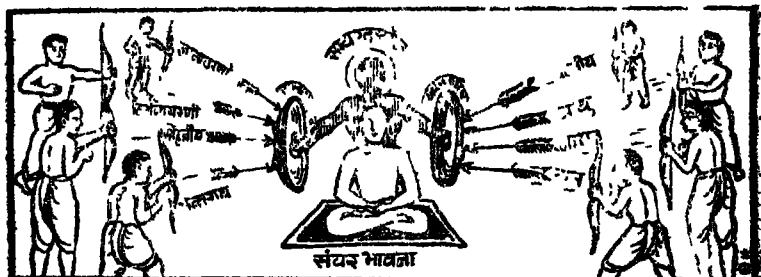
अन्वयार्थः—(जिन) जिन्होंने (पुण्य) शुभभाव और (पाप) अशुभभाव (नहिं कीना) नहीं किये, तथा मात्र (आतम) आत्माके (अनुभव) अनुभवमें [शुद्ध उपयोगमें] (चित) ज्ञानको (दीना) लगाया है (तिनही) उन्होंने ही (आवत) आते हुए (विधि) कर्मोंको (रोके) रोका है और (संवर लहि) संवर प्राप्त करके (सुख) सुखका (अवलोके) साक्षात्कार किया है ।

भावार्थः—आस्रवका रोकना सो संवर है । सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं । शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग दोनों बन्धके कारण हैं—ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहलेसे ही जानता है । यद्यपि साधकको निचली भूमिकामें शुद्धताके साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह दोनोंको बन्धका कारण मानता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्यके आलम्बन द्वारा जितने अंशमें शुद्धता करता है उतने अंशमें उसे संवर होता है, और वह क्रमशः शुद्धतामें वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है । यह "संवर भावना" है ॥ १० ॥

९–निर्जरा भावना

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—जो (निज काल) अपनी-अपनी स्थिति (पाय) पूर्ण होने पर (विधि) कर्म (झरना) खिर जाते हैं (तासों) उससे (निज काज) जीवका धर्मरूपी कार्य (न सरना) नहीं होता किन्तु (जो) [निर्जरा] (तप करि) आत्माके शुद्ध प्रतपन द्वारा (कर्म) कर्मोंका (खिपावै) नाश करती है [वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा है।] (सोई) वह (शिवसुख) मोक्षका सुख (दरसावै) दिखलाती है।

भावार्थः—अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मोंका खिर जाना तो प्रतिसमय अज्ञानीको भी होता है; वह कहीं शुद्धिका कारण नहीं होता। परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अर्थात् आत्माके शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कहलाती है। तदनुसार शुद्धिकी वृद्धि होते होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है तब जीव शिवसुख (सुखकी पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है। ऐसा जानता हुआ

सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्यके आलम्बन द्वारा जो शुद्धिकी वृद्धि करता है वह "निर्जरा भावना" है ॥ ११ ॥

१०–लोक भावना

किनहू न करौ न धरै को, षड्द्रव्यमयी न हरै को;
सो लोकमांहि बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ॥ १२ ॥
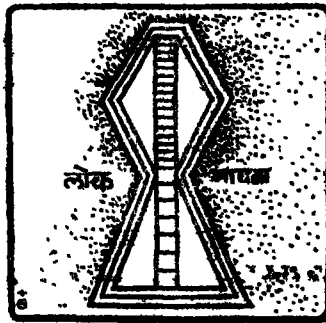
अन्वयार्थः—इस लोकको (किनहू) किसीने (न करौ) बनाया नहीं है, (को) किसीने (न धरै) टिका नहीं रखा है, (को) कोई (न हरै) नाश नहीं कर सकता; [और यह लोक] (षड्द्रव्यमयी) छह प्रकारके द्रव्यस्वरूप है—छह द्रव्योंसे परिपूर्ण है (सो) ऐसे (लोकमांहि) लोकमें (बिन समता) वीतरागी समता बिना (नित) सदैव (भ्रमता) भटकता हुआ (जीव) जीव (दुख सहै) दुःख सहन करता है।

भावार्थः—ब्रह्मा आदि किसीने इस लोकको बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसीने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसीसे यह नष्ट नहीं होता; किंतु यह छह द्रव्यमय लोक स्वयंसे ही अनादि–अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूपसे स्थित रहकर निरन्तर अपनी नई-नई पर्यायों (अवस्थाओं) से

उत्पाद—व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं है, यह छह द्रव्यस्वरूप लोक वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ; मेरा शाश्वत चैतन्य-लोक ही मेरा स्वरूप है—ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वोन्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव—वीतरागता बढ़ानेका अभ्यास करता है, यह "लोक भावना" है ॥ १२ ॥

११—बोधिदुर्लभ भावना

अंतिम—ग्रीवकलौंकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(अंतिम) अंतिम—नववें (ग्रीवकलौंकी हद) ग्रैवेयक तकके (पद) पद (अनन्त विरियाँ) अनन्तबार (पायो) प्राप्त किये, तथापि (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (न लाधौ) प्राप्त न हुआ; (दुर्लभ) ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञानको (मुनि) मुनिराजोंने (निजमें) अपने आत्मामें (साधौ) धारण किया है।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि जीव मंद कषायके कारण अनेकबार ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्रपदको प्राप्त हुआ है, परन्तु उसने

एकबार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना वह अपूर्व है; उसे तो स्वोन्मुखताके अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होनेपर विपरीत अभिप्राय आदि दोषोंका अभाव होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान आत्माके आश्रयसे ही होते हैं। पुण्यसे, शुभरागसे, जड़ कर्मादिसे नहीं होते। इस जीवने बाह्य संयोग, चारों गतिके लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये हैं किन्तु निज आत्माका यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नहीं समझा, इसलिये उसकी प्राप्ति अपूर्व है।

बोधि अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता; उस बोधिकी प्राप्ति प्रत्येक जीवको करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव स्व-सन्मुखतापूर्वक ऐसा चिंतवन करता है और अपनी बोधि और शुद्धिकी वृद्धिका बारम्बार अभ्यास करता है, यह "बोधि-दुर्लभ भावना" है ॥ १३ ॥

१२-धर्म भावना

जो भाव मोहतैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे;
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(मोह तैं) मोहसे (न्यारे) भिन्न, (सारे) साररूप अथवा निश्चय (जो) जो (दृग-ज्ञान-व्रतादिक) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय आदिक (भाव) भाव हैं (सो) वह (धर्म) धर्म कहलाता है। (जबै) जब (जिय) जीव (धारैं) उसे धारण करता है (तब ही) तभी वह (अचल सुख) अचल सुख-मोक्ष (निहारैं) देखता है—प्राप्त करता है।

भावार्थः—मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान; उससे रहित निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) ही साररूप धर्म है। व्यवहार रत्नत्रय वह धर्म नहीं है—ऐसा बतलानेके लिये यहाँ गाथामें "सारे" शब्दका प्रयोग किया है। जब जीव निश्चय रत्नत्रयस्वरूप धर्मको स्वाश्रय द्वारा प्रगट करता है तभी वह स्थिर, अक्षयसुख (मोक्ष) प्राप्त करता है। इस प्रकार, चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वोन्मुखता द्वारा शुचिकी वृद्धि बारम्बार करता है। वह "धर्म भावना" है॥ १४॥

आत्मानुभवपूर्वक भावलिंगी मुनिका स्वरूप

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूत उचरिये;
ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥ १५॥

अन्वयार्थः—(सो) ऐसा रत्नत्रय (धर्म) धर्म (मुनिन-करि) मुनियों द्वारा (धरिये) धारण किया जाता है, (तिनकी) उन मुनियोंकी (करतूत) क्रियाएँ (उचरिये) कही जाती हैं, (भवि प्रानी) हे भव्य जीवो! (ताकों) उसे (सुनिये) सुनो और (अपनी) अपने आत्माके (अनुभूति) अनुभवको (पिछानी) पहिचानो।

भावार्थ :—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्मको भावलिंगी दिगम्बर जैन मुनि ही अंगीकार करते हैं—अन्य कोई नहीं। अब, आगे उन मुनियोंके सकलचारित्रका वर्णन किया जाता है। हे भव्यो! उन मुनिवरोंका चारित्र सुनो और अपने आत्माका अनुभव करो॥ १५॥

पांचवीं ढालका सारांश

यह बारह भावनाएँ चारित्रगुणकी आंशिक शुद्ध पर्यायें हैं; इसलिये वे सम्यग्दृष्टि जीवको ही हो सकती हैं। सम्यक् प्रकारसे यह बारह प्रकारकी भावनाएँ भानेसे वीतरागताकी वृद्धि होती है; उन बारह भावनाओंका चिंतवन मुख्यरूपसे तो वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिराजको ही होता है तथा गौणरूपसे सम्यग्दृष्टिको होता है। जिसप्रकार पवनके लगनेसे अग्नि भभक उठती है, उसीप्रकार अन्तरंग परिणामोंकी शुद्धता सहित इन भावनाओंका चिंतवन करनेसे समताभाव प्रगट होता है और उससे मोक्षसुख प्रगट होता है। स्वोन्मुखतापूर्वक इन भावनाओंसे संसार, शरीर और भोगोंके प्रति विशेष उपेक्षा होती है और आत्माके परिणामोंकी निर्मलता बढ़ती है। इन बारह भावनाओंका स्वरूप विस्तारसे जानना हो तो "स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा," "ज्ञानार्णव" आदि ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये।]

अनित्यादि चिंतवन द्वारा शरीरादिको बुरा जानकर, अहितकारी मानकर उनसे उदास होनेका नाम अनुप्रेक्षा नहीं है, क्योंकि यह तो जिसप्रकार पहले किसीको मित्र मानता था तब उसके प्रति राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उसके प्रति उदासीन हो गया।

इसीप्रकार पहले शरीरादिसे राग था, किन्तु बादमें उनके अनित्यादि अवगुण देखकर उदासीन हो गया; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। किन्तु अपने तथा शरीरादिके यथावत् स्वरूपको जानकर, भ्रमका निवारण करके, उन्हें भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना—ऐसी यथार्थ उदासीनताके हेतु अनित्यता आदिका यथार्थ चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. २२९, श्री टोडरमल स्मारक ग्रन्थमालासे प्रकाशित)।

पांचवीं ढालका भेद-संग्रह

अनुप्रेक्षा अथवा भावना:—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—यह बारह हैं।

इन्द्रियोंके विषय:—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द—वह पांच हैं।

निर्जरा:—के चार भेद हैं:—अकाम, सविपाक, सकाम, अविपाक

योग:—द्रव्य और भाव।

परिवर्तन:— पाँच प्रकार हैं:—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

मलद्वार:—दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र, एक मुँह तथा मल—मूत्रद्वार दो—इस प्रकार नौ।

वैराग्य:—संसार, शरीर और भोग—इन तीनोंसे उदासीनता।

कुधातु:—पीव, लहू, वीर्य, मल, चरबी, मांस और हड्डी आदि।

पांचवीं ढालका लक्षण-संग्रह

अनुप्रेक्षा (भावना):—भेदज्ञानपूर्वक संसार, शरीर और

भोगादिके स्वरूपका बारम्बार विचार करके उनके प्रति उदासीनभाव उत्पन्न करना।

अशुभ उपयोगः—हिंसादिमें अथवा कषाय, पाप और व्यसनादि निन्दापात्र कार्योंमें प्रवृत्ति।

असुरकुमारः—असुर नामक देवगति-नामकर्मके उदयवाले भवनवासी देव।

कर्मः—आत्मा रागादि विकाररूपसे परिणमित हो तो उसमें निमित्तरूप होनेवाले जड़कर्म—द्रव्यकर्म।

गतिः—नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्यरूप जीवकी अवस्था विशेषको गति कहते हैं, उसमें गति नामक नामकर्म निमित्त है।

ग्रैवेयकः—सोलहवें स्वर्गसे ऊपर और प्रथम अनुदिशसे नीचे, देवोंको रहनेके स्थान।

देवः—देवगतिको प्राप्त जीवोंको देव कहते हैं; वे अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व-इन आठ सिद्धि (ऐश्वर्य) वाले होते हैं; उनके मनुष्य समान आकारवाला सप्त कुधातु रहित सुन्दर शरीर होता है।

धर्मः—दुःखसे मुक्ति दिलानेवाला निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग; जिससे आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है। (रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र।)

धर्मके भिन्न-भिन्न लक्षण:—(१) वस्तुका स्वभाव वह धर्म; (२) अहिंसा; (३) उत्तमक्षमादि दस लक्षण; (४) निश्चयरत्नत्रय।

पाप:—मिथ्यादर्शन, आत्माकी विपरीत समझ, हिंसादि अशुभभाव सो पाप है।

पुण्य:—दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादिके शुभभाव; मंदकषाय वह जीवके चारित्रगुणकी अशुभ दशा है; पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, बन्धनके कारण हैं।

बोधि:—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता।

मुनि:- (साधु परमेष्ठी):—समस्त व्यापारसे विमुक्त, चार प्रकारकी आराधनामें सदा लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह ऐसे सर्व साधु होते हैं। समस्त भावलिंगी मुनियोंको नग्न-दिगम्बर दशा तथा साधुके २८ मूलगुण होते हैं।

योग:—मन, वचन, कायाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका कम्पन होना उसे द्रव्ययोग कहते हैं। कर्म और नोकर्मके ग्रहणमें निमित्तरूप जीवकी शक्तिको भावयोग कहते हैं।

शुभ उपयोग:—देवपूजा, स्वाध्याय, दया, दानादि, अणुव्रत-महाव्रतादि शुभभावरूप आचरण।

सकलव्रत:—५-महाव्रत, ५-समिति, ६-आवश्यक, ५-इन्द्रिय-जय, ६-केशलोच, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन,

खड़े-खड़े आहार, दिनमें एकबार आहार-जल तथा नग्नता आदिका पालन—सो व्यवहारसे सकलव्रत है; और रत्नत्रयकी एकतारूप आत्मस्वभावमें स्थिर होना सो निश्चयसे सकलव्रत है।

सकलव्रतीः—(सकलव्रतोंके धारक) रत्नत्रयकी एकतारूप स्वभावमें स्थिर रहनेवाले महाव्रतके धारक दिगम्बर मुनि वे निश्चय सकलव्रती हैं।

अन्तर-प्रदर्शन

१—अनुप्रेक्षा और भावना पर्यायवाची शब्द हैं; उनमें कोई अन्तर नहीं है।

२—धर्मभावनामें तो बारम्बार विचारकी मुख्यता है और धर्ममें निज गुणोंमें स्थिर होनेकी प्रधानता है।

३—व्यवहार सकलव्रतमें तो पापोंका सर्वदेश त्याग किया जाता है और व्यवहार अणुव्रतमें उनका एकदेश त्याग किया जाता है; इतना इन दोनोंमें अन्तर है।

पांचवीं ढालकी प्रश्नावली

१—अनित्यभावना, अन्यत्वभावना, अविपाकनिर्जरा, अकामनिर्जरा, अशरणभावना, अशुचिभावना, आस्रवभावना, एकत्वभावना, धर्मभावना, निश्चयधर्म, बोधिदुर्लभभावना, लोकभावना, संवरभावना, सकामनिर्जरा, सविपाकनिर्जरा आदिके लक्षण समझाओ।

२—सकलव्रतमें और विकलव्रतमें, अनुप्रेक्षामें और भावनामें, धर्ममें और धर्मद्रव्यमें, धर्ममें और धर्मभावनामें तथा एकत्वभावना और अन्यत्वभावनामें अन्तर बतलाओ।

३—अनुप्रेक्षा, अनित्यता, अन्यत्व और अशरणपनेका स्वरूप दृष्टान्त सहित समझाओ।

४—अकाम निर्जराका निष्प्रयोजनपना, अचल सुखकी प्राप्ति, कर्मके आस्रवका निरोध, पुण्यके त्यागका उपदेश और सांसारिक सुखोंकी असारता आदिके कारण बतलाओ।

५—अमुक भावनाका विचार और लाभ, आत्मज्ञानकी प्राप्तिका समय और लाभ, इन्द्रधनुष, औषधि सेवनकी सार्थकता—निरर्थकता, बारह भावनाओंके चिंतवनसे लाभ, मंत्रादिकी सार्थकता और निरर्थकता। वैराग्यकी वृद्धिका उपाय, इन्द्रधनुष्य तथा बिजलीका दृष्टान्त क्या समझाते हैं? लोकका कर्ता-हर्ता माननेसे हानि, समता न रखनेसे हानि, सांसारिक सुखका परिणाम और मोक्ष-सुखकी प्राप्तिका समय—आदिका स्पष्ट वर्णन करो।

६—अमुक शब्द, चरण तथा छन्दका अर्थ—भावार्थ समझाओ। लोकका नकशा बनाओ और पाँचवीं ढालका सारांश कहो।

छठवीं ढाल

(हरिगीत छन्द)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य महाव्रतके लक्षण

षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयो गहैं;
अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(षट्काय जीव) छह कायके जीवोंको (न हननतैं) घात न करनेके भावसे (सब विध) सर्व प्रकारकी (दरवहिंसा) द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है और (रागादि भाव) राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावोंको (निवारतैं) दूर करनेसे (भावित हिंसा) भावहिंसा भी (न अवतरी) नहीं होती, (जिनके) उन मुनियोंको (लेश) किंचित् (मृषा) झूठ (न) नहीं होती, (जल) पानी और (मृण) मिट्टी (हू) भी (बिना दीयो) दिये बिना (न गहैं) ग्रहण नहीं करते; तथा (अठदशसहस) अठारह हजार (विध) प्रकारके (शील) शीलको-ब्रह्मचर्यको (धर) धारण करके (नित) सदा (चिद्ब्रह्ममें) चैतन्यस्वरूप आत्मामें (रमि रहैं) लीन रहते हैं।

भावार्थः—निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वरूपमें निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना ही मुनिपना है। ऐसी भूमिकामें निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान बारम्बार आता ही है। छठवें गुणस्थानके समय उन्हें पंच महाव्रत, नग्नता, समिति आदि अट्ठाईस मूलगुणके शुभभाव होते हैं, किन्तु उसे वे धर्म नहीं मानते; तथा उस काल भी उन्हें तीन कषाय चौकड़ीके अभावरूप शुद्ध परिणति निरन्तर वर्तती ही है।

छह काय (पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर काय तथा एक त्रस काय)के जीवोंका घात करना सो द्रव्यहिंसा है और राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान इत्यादि भावोंकी उत्पत्ति होना सो भावहिंसा है। वीतरागी मुनि (साधु) यह दो प्रकारकी हिंसा नहीं करते, इसलिये उनको (१) अहिंसा महाव्रत* होता है। स्थूल या सूक्ष्म—ऐसे दोनों प्रकारकी झूठ वे नहीं बोलते, इसलिये उनको (२) सत्य महाव्रत होता है। अन्य किसी वस्तुकी तो बात ही क्या, किन्तु मिट्टी और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते, इसलिये उनको (३) अचौर्यमहाव्रत होता है। शीलके अठारह हजार भेदोंका सदा पालन करते हैं और चैतन्यरूप आत्मस्वरूपमें लीन रहते हैं, इसलिये उनको (४) ब्रह्मचर्य (आत्म-स्थिरतारूप) महाव्रत होता है। १।

परिग्रह त्याग महाव्रत, ईर्या समिति÷ और भाषा समिति

अंतर चतुर्दस भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलैं;
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।
जग-सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;
भ्रमरोग-हर जिनके वचन-मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं ॥ २ ॥

---

* यहाँ वाक्य बदलनेसे महाव्रतोंके लक्षण बनते हैं जैसे कि—दोनों प्रकारकी हिंसा न करना सो अहिंसा महाव्रत है—इत्यादि।

÷ अदत्त वस्तुओंका प्रमादसे ग्रहण करना ही चोरी कहलाती है; इसलिये प्रमाद न होने पर भी मुनिराज नदी तथा झरने आदिका प्रासुक हुआ जल, भस्म (राख) तथा अपने आप गिरे हुए सेमलके फल और तुम्बीफल आदिका ग्रहण कर सकते हैं—ऐसा "श्लोकवार्तिकालंकार" का अभिमत है। (पृ. ४६३)
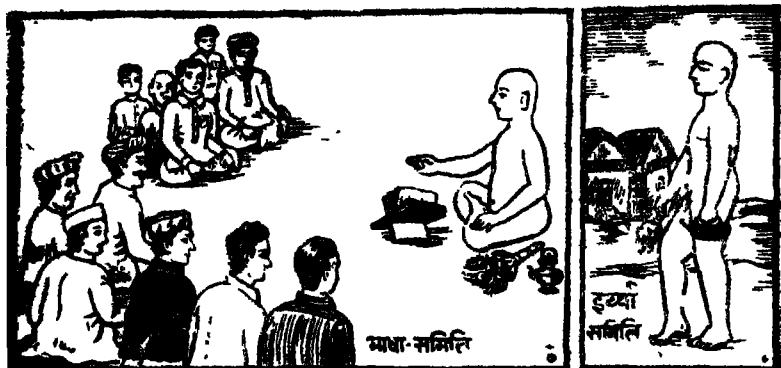
अन्वयार्थः—[वे वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि] (चतुदस भेद) चौदह प्रकारके (अन्तर) अंतरंग तथा (दसधा) दस प्रकारके (बाहिर) बहिरंग (संग) परिग्रहसे (टलें) रहित होते हैं। (परमाद) प्रमाद—असावधानी (तजि) छोड़कर (चौकर) चार हाथ (मही) जमीन (लखि) देखकर (ईर्या) ईर्या (समिति तैं) समितिसे (चलें) चलते हैं, और (जिनके) जिन मुनिराजोंके (मुखचन्द्र तैं) मुखरूपी चन्द्रसे (जग सुहितकर) जगतका सच्चा हित करनेवाला तथा (सब अहितकर) सर्व अहितका नाश करनेवाला. (श्रुति सुखद) सुननेमें प्रिय लगे ऐसा (सब संशय) समस्त संशयोंका (हरें) नाशक और (भ्रम रोगहर) मिथ्यात्वरूपी रोगको हरनेवाला (वचन अमृत) वचनरूपी अमृत (झरें) झरता है।

भावार्थः—वीतरागी मुनि चौदह प्रकारके अन्तरंग और दस प्रकारके बहिरंग परिग्रहोंसे रहित होते हैं, इसलिये उनको (५) परिग्रहत्याग—महाव्रत होता है। दिनमें सावधानीपूर्वक

चार हाथ आगेकी भूमि देखकर चलनेका विकल्प उठे वह (१) ईर्या समिति है, तथा जिसप्रकार चन्द्रसे अमृत झरता है उसीप्रकार मुनिके मुखचन्द्रसे जगतका हित करनेवाले, सर्व अहितका नाश करनेवाले, सुननेमें सुखकर, सर्व प्रकारकी शंकाओंको दूर करनेवाले और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोगका नाश करनेवाले ऐसे अमृत-वचन निकलते हैं। इस प्रकार समितिरूप बोलनेका विकल्प मुनिको उठता है वह (२) भाषा समिति है।

—उपरोक्त भावार्थमें आये हुए वाक्योंको बदलनेसे क्रमशः परिग्रह-त्याग-महाव्रत तथा ईर्या समिति और भाषा समितिका लक्षण हो जायेगा।

प्रश्नः—सच्ची समिति किसे कहते हैं ?

उत्तरः—पर जीवोंकी रक्षाके हेतु यत्नाचार प्रवृत्तिको अज्ञानी जीव समिति मानते हैं; किन्तु हिंसाके परिणामोंसे तो पापबन्ध होता है। यदि रक्षाके परिणामोंसे संवर कहोगे तो पुण्यबन्धका कारण क्या सिद्ध होगा ?

तथा मुनि एषणा समितिमें दोषको टालते हैं; वहाँ रक्षाका प्रयोजन नहीं है, इसलिये रक्षाके हेतु ही समिति नहीं है। तो फिर समिति किसप्रकार होती है ? मुनिको किंचित् राग होने पर गमनादि क्रियाएँ होती हैं, वहाँ उन क्रियाओंमें अति आसक्तिके अभावसे प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन सिद्ध नहीं करते, इसलिये उनसे स्वयं दयाका पालन होता है;—इस प्रकार सच्ची समिति है। (*मोक्षमार्ग-प्रकाशक (देहली) पृ० ३३५)। २।

---

* ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान;
प्रतिष्ठापना जुतक्रिया, पाँचों समिति विधान।

एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति

छ्यालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर असनको;
लैं तप बढावन हेतु, नहिं तन-पोषते तजि रसनको ।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;
निर्जन्तु थान विलोकि तन-मल मूत्र श्लेष्म परिहरैं ॥ ३ ॥
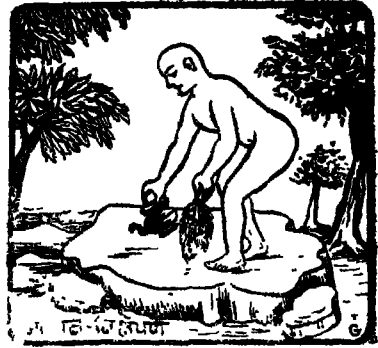
अन्वयार्थः—[वीतरागी मुनि] (सुकुल) उत्तम कुलवाले (श्रावकतनैं) श्रावकके घर और (रसनको) छहों रस अथवा

एक-दो रसोंको (तजि) छोड़कर (तन) शरीरको (नाँहि पोषते) पुष्ट न करते हुए—मात्र (तप) तपकी (बढ़ावन हेतु) वृद्धि करनेके हेतुसे [आहारके] (छयालीस) छियालीस (दोष बिना) दोषोंको दूर करके (अशनको) भोजनको (लैं) ग्रहण करते हैं*। (शुचि) पवित्रताके (उपकरण) साधन कमण्डलको, (ज्ञान) ज्ञानके (उपकरण) साधन शास्त्रको, तथा (संयम) संयमके (उपकरण) साधन पींछीको (लखिकैं) देखकर (गहैं) ग्रहण करते हैं [और] (लखिकैं) देखकर (धरैं) रखते हैं [और] (मूत्र) पेशाब (श्लेष्म) श्लेष्म (तन-मल) शरीरके मैलको (निर्जन्तु) जीवरहित (थान) स्थान (बिलोकि) देखकर (परिहरैं) त्यागते हैं।

भावार्थः—वीतरागी जैन मुनि—साधु उत्तम कुल वाले श्रावकके घर, आहारके छियालीस दोषोंको टालकर तथा अमुक रसोंका त्याग करके [अथवा स्वादका राग न करके] शरीरको पुष्ट करनेका अभिप्राय न रखकर, मात्र तपकी वृद्धि करनेके लिये आहार ग्रहण करते हैं; इसलिये उनको (३) एषणासमिति होती है। पवित्रताके साधन कमण्डलको, ज्ञानके साधन शास्त्रको और संयमके साधन पींछीको—जीवोंकी विराधना बचानेके हेतु—

* आहारके दोषोंका विशेष वर्णन "अनगार धर्मामृत" तथा "मूलाचार" आदि शास्त्रोंमें देखें। उन दोषोंको टालनेके हेतु दिगम्बर साधुओंको कभी महीनों तक भोजन न मिले तथापि मुनि किंचित् खेद नहीं करते; अनासक्त और निर्मोह—हठरहित सहजरूप होते हैं। [कायर मनुष्यों—अज्ञानियोंको ऐसा मुनिव्रत कष्टदायक प्रतीत होता है, ज्ञानीको वह सुखमय लगता है।)

देखभाल कर रखते हैं तथा उठाते हैं; इसलिये उनको (४) आदान-निक्षेपण समिति होती है। [मल-मूत्र-कफ आदि शरीरके मैलको जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं इसलिये उनको (५) व्युत्सर्ग अर्थात् प्रतिष्ठापन समिति होती है। ३।

मुनियोंकी तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियों पर विजय

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आतम ध्यावते;
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।
रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;
तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ॥ ४॥
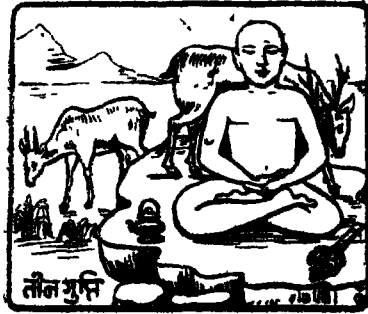
अन्वयार्थः—[वीतरागी मुनि] (मन वच काय) मन-वचन-कायाका (सम्यक् प्रकार) भलीभाँति-बराबर (निरोध) निरोध करके, जब (आतम) अपने आत्माका (ध्यावते) ध्यान करते हैं तब (तिन) उन मुनियोंकी (सुथिर) सुस्थिर-शांत (मुद्रा) मुद्रा (देखि) देखकर, उन्हें (उपल) पत्थर समझकर (मृगगण) हिरन अथवा चौपाये प्राणियोंके समूह (खाज) अपनी खाज-खुजलीको (खुजावते) खुजाते हैं। [जो] (शुभ) प्रिय और (असुहावने)

अप्रिय [पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी] (रस) पाँच रस, (रूप) पाँच वर्ण (गंध) दो गँध, (फरस) आठ प्रकारके स्पर्श (अरु) और (शब्द) शब्द–(तिनमें) उन सबमें (राग–विरोध) राग या द्वेष (न) मुनिको नहीं होते, [इसलिये वे मुनि] (पंचेन्द्रिय जयन) पाँच इन्द्रियोंको जीतनेवाला अर्थात् जितेन्द्रिय (पद) पद (पावने) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थः—इस गाथामें निश्चय गुप्तिका तथा भावलिंगी मुनिके अट्ठाईस मूलगुणोंमें पाँच इन्द्रियोंकी विजयके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

भावलिंगी मुनि जब उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर निर्विकल्प रूपमें स्वरूपमें गुप्त होते हैं—वह निश्चय गुप्ति है। उस समय मन–वचन–कायकी क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शांत और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीरको पत्थर समझकर मृगोंके *झुण्ड (पशु) खाज (खुजली) खुजाते हैं, तथापि वे मुनि अपने ध्यानमें निश्चल रहते हैं। उन भावलिंगी मुनियोंको तीन गुप्तियाँ हैं।

प्रश्नः—गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तरः—मन–वचन–कायाकी बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पापका चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव गुप्ति मानते हैं। उस समय मनमें तो भक्ति आदिरूप

---

* इस सम्बन्धमें सुकुमाल मुनिका दृष्टान्तः—जब वे ध्यानमें लीन थे, उस समय एक सियालिनी और उसके दो बच्चे उनका आधा पैर खा गये थे, किन्तु वे अपने ध्यानसे किंचित् चलायमान नहीं हुए। (संयोगसे दुःख होता ही नहीं, शरीरादिमें ममत्व करे तो उस ममत्वभावसे ही दुःखका अनुभव होता है—ऐसा समझना।)

अनेक प्रकारके शुभरागादि विकल्प उठते हैं; इसलिये प्रवृत्तिमें तो गुप्तिपना हो नहीं सकता। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मामें लीनता द्वारा) वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-कायाकी चेष्टा न हो वही गुप्ति है। (मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृ० २३५)।

मुनि प्रिय (अनुकूल) पाँच इन्द्रियोंके पाँच रस, पाँच रूप, दो गंध, आठ स्पर्श तथा शब्दरूप पाँच विषयोंमें राग नहीं करते और अप्रिय (प्रतिकूल) ऊपर कहे हुए पांच विषयोंमें द्वेष नहीं करते।—इस प्रकार (५) पाँच इन्द्रियोंको जीतनेके कारण वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं। ४।

मुनियोंके छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन ॥ ५ ॥
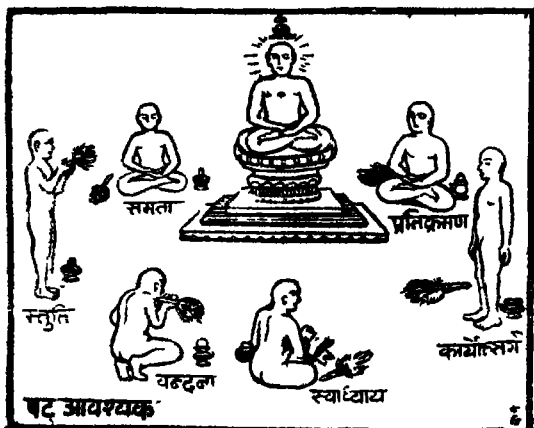
अन्वयार्थः—[वीतरागी मुनि] (नित) सदा (समता) सामायिक (सम्हारें) सम्हालकर करते हैं, (थुति) स्तुति (उचारें) बोलते हैं, (जिनदेवको) जिनेन्द्र भगवानकी (वन्दना) वन्दना करते हैं; (श्रुतिरति) स्वाध्यायमें प्रेम (करें) करते हैं, (प्रतिक्रम) प्रतिक्रमण (करें) करते हैं, (तन) शरीरकी (अहमेवको) ममताको (तजें) छोड़ते हैं। (जिनके) जिन मुनियोंको (न्हौन) स्नान और (दंतधोवन) दाँतोंको स्वच्छ करना (न) नहीं होता, (अंबर आवरन) शरीर ढँकनेके लिये वस्त्र (लेश) किंचित् भी उनके (न) नहीं होता और (पिछली रयनिमें) रात्रिके पिछले भागमें (भूमाहिं) धरती पर (एकासन) एक करवट (कछु) कुछ समय तक (शयन) शयन (करन) करते हैं।

भावार्थः—वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी स्तुति, (३) जिनेन्द्र भगवानकी वन्दना, (४) स्वाध्याय, (५) प्रतिक्रमण, (६) कायोत्सर्ग (शरीरके प्रति ममताका त्याग) करते हैं; इसलिये उनको छह आवश्यक होते हैं, और वे मुनि कभी भी (१) स्नान नहीं करते, (२) दाँतोंकी सफाई नहीं करते, (३) शरीरको ढँकनेके लिये थोड़ा-सा भी वस्त्र नहीं रखते, तथा (४) रात्रिके पिछले भागमें एक करवटसे भूमि पर कुछ समय शयन करते हैं॥ ५॥

मुनियोंके शेष गुण तथा राग-द्वेषका अभाव

इक बार दिनमें लें अहार, खड़े अलप निज-पानमें;
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्घावतारन असि-प्रहारनमें सदा समता धरन॥ ६॥

अन्वयार्थः—[वे वीतराग मुनि] (दिनमें) दिनमें (इकबार) एकबार (खड़े) खड़े रहकर और (निज—पानमें) अपने हाथमें रखकर (अल्प) थोड़ा-सा (अहार) आहार (लें) लेते हैं; (कचलोंच) केशलोंच (करत) करते हैं, (निज ध्यानमें) अपने आत्माके ध्यानमें (लगे) तत्पर होकर (परिषह सौं) बाईस प्रकारके परिषहोंसे (न डरत) नहीं डरते; और (अरि मित्र) शत्रु या मित्र, (महल मसान) महल या स्मशान, (कंचन कांच) सोना या काँच (निन्दन थुति करन) निन्दा या स्तुति करनेवाले, (अर्घावतारन) पूजा करनेवाले और (असि प्रहारन) तलवारसे प्रहार करनेवाले—

उन सबमें (सदा) सदा (समता) समताभाव (धरन) धारण करते हैं।

भावार्थः—[वे वीतरागी मुनि] (५) दिनमें एकबार (६) खड़े-खड़े अपने हाथमें रखकर थोड़ा आहार लेते हैं; (७) केशका लोंच करते हैं; आत्मध्यानमें मग्न रहकर परिषहोंसे नहीं डरते अर्थात् बाईस प्रकारके परिषहों पर विजय प्राप्त करते हैं, तथा शत्रु–मित्र, महल–स्मशान, सुवर्ण–काँच, निन्दक और स्तुति करनेवाले, पूजा–भक्ति करनेवाले या तलवार आदिसे प्रहार करनेवाले इन सबमें समभाव (राग–द्वेषका अभाव) रखते हैं अर्थात् किसी पर राग–द्वेष नहीं करते।

प्रश्नः–सच्चा परिषह-जय किसे कहते हैं?

उत्तरः—क्षुधा तृषा, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार–पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन, प्रज्ञा और अज्ञान—यह बाईस प्रकारके परिषह हैं। भावलिंगी मुनिको प्रतिसमय तीन कषायका (अनन्तानुबन्धी आदिका) अभाव होनेसे स्वरूपमें सावधानीके कारण जितने अंशमें राग-द्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती, उतने अंशमें उनका निरन्तर परिषह्-जय होता है। क्षुधादिक लगने पर उसके नाशका उपाय न करना उसे (अज्ञानी जीव) परिषह-सहन करते हैं। वहाँ उपाय तो नहीं किया, किन्तु अंतरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेसे दुःखी हुआ तथा रति आदिका कारण मिलनेसे सुखी हुआ,—किन्तु वह तो दुःख–सुखरूप परिणाम हैं और वही आर्त–रौद्रध्यान हैं; ऐसे भावोंसे संवर किस प्रकार हो सकता है?

प्रश्नः—तो फिर परिषह्-जय किस प्रकार होता है?

उत्तर.—तत्त्वज्ञानके अभ्याससे कोई पदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासित न हो; दुःखके कारण मिलनेसे दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेसे सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूपसे उसका ज्ञाता ही रहे–वही सच्चा परिषहजय है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३६) ।६।

मुनियोंके तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा;
मुनि साथमें वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब;
जिम होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—[वे वीतरागी मुनि सदा] (द्वादश) बारह प्रकारके (तप तपैं) तप करते हैं; (दश) दस प्रकारके (वृष) धर्मको (धरैं) धारण करते हैं और (रतनत्रय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका (सदा) सदा (सेवैं) सेवन करते हैं। (मुनि साथमें) मुनियोंके संघमें (वा) अथवा (एक) अकेले (विचरैं) विचरते हैं और (कदा) किसी भी समय (भवसुख) सांसारिक सुखोंकी (नहि चहैं) इच्छा नहीं करते। (यों) इसप्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र (है) है; (अब) अब (स्वरूपाचरण) स्वरूपाचरण चारित्र सुनो। (जिम) जो स्वरूपाचरण चारित्र [स्वरूपमें रमणतारूप चारित्र] (होत) प्रगट होनेसे (आपनी) अपने आत्माकी (निधि) ज्ञानादिक सम्पत्ति (प्रगटै) प्रगट होती है, तथा (परकी) परवस्तुओंकी ओरकी (सब) सर्व प्रकारकी (प्रवृति) प्रवृत्ति (मिटै) मिट जाती है।

भावार्थः—(१) भावलिंगी मुनिका शुद्धात्मस्वरूपमें लीन रहकर प्रतपना–प्रतापवन्त वर्तना सो तप है। तथा हठरहित

बारह प्रकारके तपके शुभ विकल्प होते हैं वह व्यवहार तप है। वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम भी धर्म है। भावलिंगी मुनिको उपरोक्तानुसार तप और धर्मका आचरण होता है; वे मुनियोंके संघमें अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं करते।—इस प्रकार सकलचारित्रका स्वरूप कहा।

(२) अज्ञानी जीव अनशनादि तपसे निर्जरा मानते हैं; किन्तु मात्र बाह्य तप करनेसे तो निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है, इसलिये उपचारसे तपको भी निर्जराका कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जराका कारण हो, तब तो पशु आदि भी क्षुधा-तृषा सहन करते हैं।

प्रश्नः—वे तो पराधीनतापूर्वक सहन करते हैं। जो स्वाधीनरूपसे धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादि तप करे उसे तो निर्जरा होती है ना?

उत्तरः— धर्मबुद्धिसे बाह्य उपवासादि करे तो वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ या शुद्धरूप— जिसप्रकार जीव परिणमे—परिणमित होगा; उपवासके प्रमाणमें यदि निर्जरा हो तो निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि सिद्ध हो, किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करनेसे भी, निर्जरा कैसे सम्भव हो सकती है? यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि—जैसे अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो तदनुसार बन्ध-निर्जरा हैं, तो उपवासादि तप निर्जराका मुख्य कारण कहाँ रहा?—वहाँ अशुभ और शुभ परिणाम तो बन्धके कारण सिद्ध हुए तथा शुद्ध परिणाम निर्जराका कारण सिद्ध हुआ।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो, अनशनादिको तपकी संज्ञा किस प्रकार कही गई?

उत्तरः—उन्हें बाह्य-तप कहा है; बाह्यका अर्थ यह है कि—बाह्यमें दूसरोंको दिखाई दे कि यह तपस्वी है; किन्तु स्वयं तो जैसे अंतरंग-परिणाम होंगे वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

(३) तथा अन्तरंग तपोंमें भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रियामें बाह्य प्रवर्तन है वह तो बाह्य-तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य-क्रिया है उसीप्रकार यह भी बाह्य-क्रिया है; इसलिये प्रायश्चित आदि बाह्य-साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।

परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उसका नाम अन्तरंग तप जानना; और वहाँ तो निर्जरा ही है, वहाँ बन्ध नहीं होता; तथा उस शुद्धताका अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है उनसे बन्ध है। इस प्रकार अनशनादि क्रियाको उपचारसे तप संज्ञा दी गई है—ऐसा जानना, और इसलिये उसे व्यवहारतप कहा है। व्यवहार और उपचारका एक ही अर्थ है।

अधिक क्या कहें? इतना समझ लेना कि—निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य अनेक प्रकारके भेद निमित्तकी अपेक्षासे उपचारसे कहे हैं; उन्हें व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्यको (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिये उसे निर्जराका—तपका—भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २३३, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमालासे प्रकाशित)

प्रश्नः—क्रोधादिका त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है?

उत्तरः—बन्धादिके भयसे अथवा स्वर्ग-मोक्षकी इच्छासे (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता, किन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करनेका अभिप्राय तो गया नहीं है। जिसप्रकार कोई राजादिके भयसे अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठाके लोभसे परस्त्री सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता, उसी-

प्रकार यह भी क्रोधादिका त्यागी नहीं है। तो फिर किस प्रकार त्यागी होता है?—कि पदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं, किन्तु जब तत्त्वज्ञानके अभ्याससे कोई इष्ट–अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादिककी उत्पत्ति नहीं होती और तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं। (मोक्षमार्ग पृष्ठ २२९ टोडरमल स्मारक ग्रन्थमालासे प्रकाशित)

(४) अब, आठवीं गाथामें स्वरूपाचरणचारित्रका वर्णन करेंगे उसे सुनो–कि जिसके प्रगट होनेसे आत्माकी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियोंका पूर्ण विकास होता है और परपदार्थके ओरकी सर्वप्रकारकी प्रवृत्ति दूर होती है–वह स्वरूपाचरणचारित्र है। ७।

स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
वरणादि अरु रागादितैं निज भावको न्यारा किया।
निजमांहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(जिन) जो वीतरागी मुनिराज (परम) अत्यंत (पैनी) तीक्ष्ण (सुबुधि) सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञानरूपी (छैनी)

*छैनी (डारि) पटककर (अन्तर) अन्तरंगमें (भेदिया) भेद करके (निजभावको) आत्माके वास्तविक स्वरूपको (वरणादि) वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्शरूप द्रव्यकर्मसे (अरु) और (रागादितैं) राग-द्वेषादिरूप भावकर्मसे (न्यारा किया) भिन्न करके (निजमांहि) अपने आत्मामें (निजके हेतु) अपने लिये (निजकर) अपने द्वारा (आपको) आत्माको (आपै) स्वयं अपनेसे (गह्यो) ग्रहण करते हैं तब (गुण) गुण, (गुणी) गुणी, (ज्ञाता) ज्ञाता, (ज्ञेय) ज्ञानका विषय और (ज्ञान मंझार) ज्ञानमें—आत्मामें (कछु भेद न रह्यो) किंचित्‌मात्र भेद [विकल्प] नहीं रहता।

भावार्थः—जब स्वरूपाचरणचारित्रका आचरण करते समय वीतरागी मुनि—जिसप्रकार कोई पुरुष तीक्ष्ण छैनी द्वारा पत्थर आदिके दो भाग पृथक्-पृथक् कर देता है, उसी प्रकार—अपने अन्तरंगमें भेदविज्ञानरूपी छैनी द्वारा अपने आत्माके स्वरूपको द्रव्य-कर्मसे तथा शरीरादिक नोकर्मसे और राग द्वेषादिरूप भावकर्मोंसे भिन्न करके अपने आत्मामें, आत्माके लिये, आत्माको स्वयं जानते हैं तब उनके स्वानुभवमें गुण, गुणी तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ऐसे कोई भेद नहीं रहते। ८।

स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोगकी निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लसा ॥ ९ ॥

---

* जिस प्रकार छैनी लोहेको काटकर दो टुकड़े कर देती है उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मोंको काटता है और आत्मासे उन कर्मोंको पृथक् कर देता है।
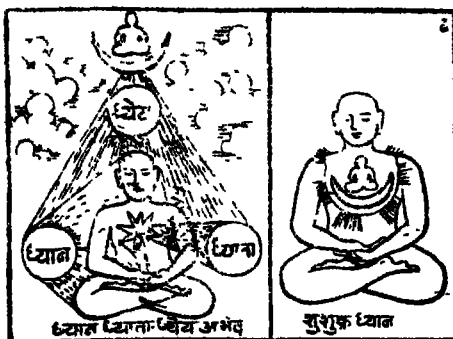
अन्वयार्थः—(जहँ) जिस स्वरूपाचरणचारित्रमें (ध्यान) ध्यान (ध्याता) ध्याता और (ध्येयको) ध्येय—इन तीनके (विकल्प) भेद (न) नहीं होते, तथा (जहाँ) जहाँ (वच) वचनका (भेद न) विकल्प नहीं होता, (तहाँ) वहाँ तो (चिद्भाव) आत्माका स्वभाव ही (कर्म) कर्म, (चिदेश) आत्मा ही (करता) कर्ता, (चेतना) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही (किरिया) क्रिया होता है—अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया—यह तीनों (अभिन्न) भेदरहित—एक, (अखिन्न) अखण्ड [बाधारहित] हो जाते हैं और (शुध उपयोगकी) शुद्ध उपयोगकी (निश्चल) निश्चल (दशा) पर्याय (प्रगटी) प्रगट होती है; (जहाँ) जिसमें (दृग-ज्ञान-व्रत) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (ये तीनधा) यह तीनों (एकै) एकरूप—अभेदरूपसे (लसा) शोभायमान होते हैं।

भावार्थः—वीतरागी मुनिराज स्वरूपाचरणके समय जब आत्मध्यानमें लीन हो जाते हैं तब ध्यान, ध्याता और ध्येय—ऐसे भेद नहीं रहते; वचनका विकल्प नहीं होता; वहाँ (आत्मध्यानमें) तो आत्मा ही *कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्माका भाव वह क्रिया

* कर्म = कर्ता द्वारा हुआ कार्य; कर्ता = स्वतंत्ररूपसे करे सो कर्ता; क्रिया = कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।

होती है, अर्थात् कर्ता–कर्म और क्रिया—ये तीनों बिलकुल अखण्ड, अभिन्न हो जाते हैं और शुद्धोपयोगकी अचल दशा प्रगट होती है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ—एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं। ९।

स्वरूपाचरणचारित्रका लक्षण और निर्विकल्प ध्यान

परमाण नय निक्षेपको न उद्योत अनुभवमें दिखै;
दृग–ज्ञान–सुख–बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै ।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;
चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं ॥ १० ॥
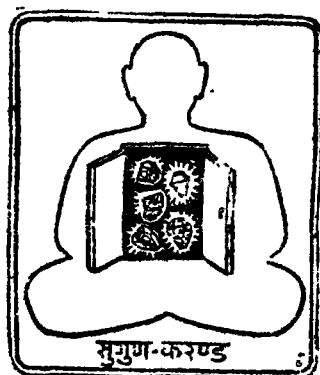
अन्वयार्थः—[उस स्वरूपाचरणचारित्रके समय मुनियोंके] (अनुभवमें) आत्मानुभवमें (परमाण) प्रमाण, (नय) नय और (निक्षेपको) निक्षेपका विकल्प (उद्योत) प्रगट (न दिखै) दिखाई नहीं देता; [परन्तु ऐसा विचार होता है कि–] (मैं) मैं (सदा) सदा (दृग–ज्ञान–सुख–बलमय) अनन्तदर्शन–अनन्तज्ञान–अनन्तसुख

और अनन्तवीर्यमय हूँ। (मो विखै) मेरे स्वरूपमें (आन) अन्य राग-द्वेषादि (भाव) भाव (नहिं) नहीं हैं, (मैं) मैं (साध्य) साध्य, (साधक) साधक तथा (कर्म) कर्म (अरु) और (तसु) उसके (फलनितें) फलोंके (अबाधक) विकल्परहित (चित् पिंड) ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप (चण्ड) निर्मल तथा ऐश्वर्यवान (अखंड) अखंड (सुगुण करंड) सुगुणोंका भंडार (पुनि) और (कलनितें) अशुद्धतासे (च्युत) रहित हूँ।

भावार्थः—इस स्वरूपाचरणचारित्रके समय मुनियोंके आत्मानुभवमें प्रमाण, नय और निक्षेपका विकल्प तो नहीं उठता किन्तु गुण-गुणीका भेद भी नहीं होता—ऐसा ध्यान होता है। प्रथम ऐसा ध्यान होता है कि मैं अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप हूँ; मुझमें कोई रागादिक भाव नहीं हैं; मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और कर्म तथा कर्मफलसे पृथक् हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप निर्मल ऐश्वर्यवान तथा अखण्ड, सहज शुद्ध गुणोंका भण्डार और पुण्य-पापसे रहित हूँ।

तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकारके विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प आत्मस्थिरताको स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं ॥ १० ॥

स्वरूपाचरणचारित्र और अरिहन्त दशा

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो,
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकें नाहीं कह्यो।
तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;
सब लख्यो केवलज्ञानकरि, भविलोक को शिवमग कह्यो ॥११॥
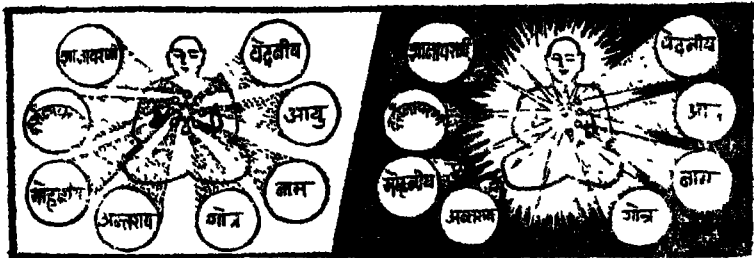
अन्वयार्थः—[स्वरूपाचरणचारित्रमें] (यों) इस प्रकार (चिन्त्य) चिंतवन करके (निजमें) आत्मस्वरूपमें (थिर भये) लीन होने पर (तिन) उन मुनियोंको (जो) जो (अकथ) कहा न जा सके ऐसा—वचनसे पार—(आनंद) आनन्द (लह्यो) होता है (सो) वह आनन्द (इन्द्र) इन्द्रको, (नाग) नागेन्द्रको, (नरेन्द्र) चक्रवर्तीको (वा अहमिन्द्रको) या अहमिन्द्रको (नहीं कह्यो) कहनेमें नहीं आया—नहीं होता। (तब ही) वह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होनेके पश्चात् जब (शुकल ध्यानाग्नि करि) शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा (चउघाति विधि कानन) चार घातिकर्मोंरूपी वन (दह्यो) जल जाता है और (केवलज्ञानकरि) केवलज्ञानसे (सब) तीनकाल और तीनलोकमें होनेवाले समस्त पदार्थोंके सर्वगुण तथा पर्यायोंको (लख्यो) प्रत्यक्ष जान लेते हैं, तब (भविलोकको) भव्य जीवोंको (शिवमग) मोक्षमार्ग (कह्यो) बतलाते हैं।

भावार्थः—इस स्वरूपाचरणचारित्रके समय मुनिराज जब उपरोक्तानुसार चिंतवन–विचार करके आत्मामें लीन हो जाते हैं तब उन्हें जो आनन्द होता है वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र
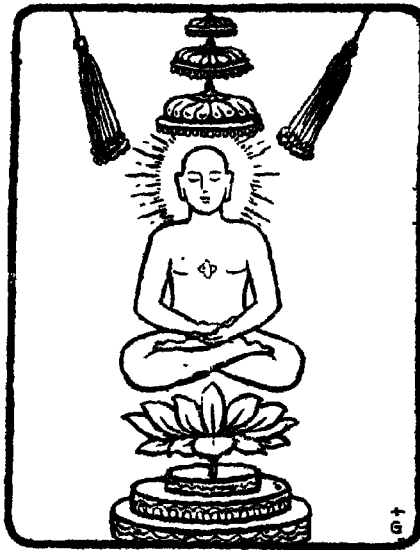
(चक्रवर्ती) या अहमिन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नहीं होता। यह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होनेके पश्चात् स्वद्रव्यमें उग्र एकाग्रतासे—शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा—चार *घातिकर्मोंका नाश होता है और अरिहन्त दशा तथा केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है जिसमें तीन काल और तीन लोकके समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। ११।

---

* घातिकर्म दो प्रकारके हैं:—द्रव्य-घातिकर्म और भाव-घातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्ध दशा प्रगट होने पर भाव-घातिकर्मरूप अशुद्ध पर्यायें उत्पन्न नहीं होतीं वह भावघातिकर्मका नाश है, तथा उसीप्रकार द्रव्य-घातिकर्मका स्वयं अभाव होता है वह द्रव्य-घातिकर्मका नाश है।

सिद्धदशाका (सिद्ध स्वरूप) का वर्णन

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहिं अष्टम भू वसैं;
वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं ।
संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये,
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(पुनि) केवलज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् (शेष) शेष चार (अघाति विधि) अघातिया कर्मोंका (घाति) नाश करके (छिनमांहि) कुछ ही समयमें (अष्टम भू) आठवीं पृथ्वी—ईषत् प्राग्भार—मोक्ष क्षेत्रमें (वसैं) निवास करते हैं; उनको (वसु कर्म) आठ कर्मोंका (विनसैं) नाश हो जानेसे (सम्यक्त्व आदिक) सम्यक्त्वादि (सब) समस्त (वसु सुगुण) आठ मुख्य गुण (लसैं) शोभायमान होते हैं। [ऐसे सिद्ध होनेवाले मुक्तात्मा] (संसार खार अपार पारावार) संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्रको (तरि) पार करके (तीरहिं) किनारे पर (गये) पहुंच जाते हैं और (अविकार) विकाररहित, (अकल) शरीररहित, (अरूप) रूपरहित, (शुचि) शुद्ध—निर्दोष (चिद्रूप) दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप

तथा (अविनाशी) नित्य-स्थायी (भये) होते हैं।

भावार्थः—अरिहन्त दशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् उस जीवको भी जिन गुणोंकी पर्यायोंमें अशुद्धता होती है उनका क्रमशः अभाव होकर वह जीव पूर्ण शुद्ध दशाको प्रगट करता है और उस समय असिद्धत्व नामक अपने उदयभावका नाश होता है तथा चार अघाति कर्मोंका भी स्वयं सर्वथा अभाव हो जाता है। सिद्धदशामें सम्यक्त्वादि आठ गुण (गुणोंकी निर्मल पर्यायें) प्रगट होते हैं। मुख्य आठ गुण व्यवहारसे कहे हैं; निश्चयसे तो अनन्त गुण (सर्व गुणोंकी पर्यायें) शुद्ध होते हैं और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनके कारण एक समयमात्रमें लोकाग्रमें पहुंचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं। ऐसे जीव संसाररूपी दुःखदायी तथा अगाध समुद्रसे पार हो गये हैं और वही जीव निर्विकारी, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धदशाको प्राप्त हुए हैं। १२।

मोक्षदशाका वर्णन

निजमांहिं लोक-अलोक गुण, परजाय प्रतिबिम्बित थये;
रहिहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया॥ १३॥
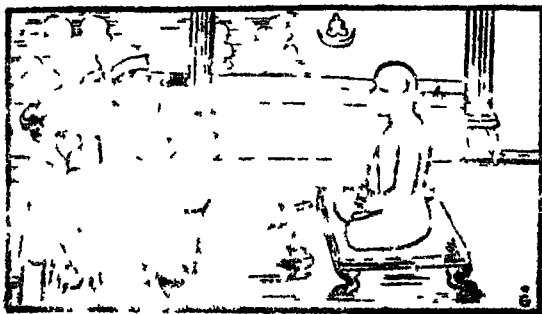
अन्वयार्थः—(निजमांहि) उन सिद्धभगवानके आत्मामें (लोक-अलोक) लोक तथा अलोकके (गुण, परजाय) गुण और पर्यायें (प्रतिबिम्बित थये) झलकने लगते हैं अर्थात् ज्ञात होने लगते हैं; वे (यथा) जिसप्रकार (शिव) मोक्षरूपसे (परिणये) परिणमित हुए हैं (तथा) उसीप्रकार (अनन्तानन्त काल) अनन्त-अनन्त काल तक (रहिहैं) रहेंगे।

(जे) जिन (जीव) जीवोंने (नरभव पाय) पुरुष पर्याय प्राप्त करके (यह) यह मुनिपद आदिकी प्राप्तिरूप (कारज) कार्य (किया) किया है, वे जीव (धनि धन्य हैं) महान धन्यवादके पात्र हैं और (तिनही) उन्हीं जीवोंने (अनादि) अनादिकालसे चले आ रहे (पंच प्रकार) पाँच प्रकारके परिवर्तनरूप (भ्रमण) संसारपरिभ्रमणको (तजि) छोड़कर (वर) उत्तम (सुख) सुख (लिया) प्राप्त किया है।

भावार्थः—सिद्ध भगवानके आत्मामें केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने-अपने गुण और तीनोंकालकी पर्यायों सहित एकसाथ, स्वच्छ दर्पणके दृष्टान्तरूपसे—सर्व प्रकारसे स्पष्ट ज्ञात होते हैं; (किन्तु ज्ञानमें दर्पणकी भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती) वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशाको प्राप्त हुए हैं तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य सिद्ध-मुक्त जीवोंकी भाँति *अनन्तानन्त काल तक रहेगी; अर्थात् अपरिमित काल व्यतीत हो जाये तथापि उनकी

---

* जिसप्रकार बीजको यदि जला दिया जाये तो वह उगता नहीं है; उसीप्रकार जिन्होंने संसारके कारणोंका सर्वथा नाश कर दिया वे पुनः अवतार—जन्म धारण नहीं करते। अथवा जिसप्रकार मक्खनसे घी हो जानेके पश्चात् पुनः मक्खन नहीं बनता, उसीप्रकार आत्माकी सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा [परमात्मपद] प्रगट करनेके पश्चात् उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती—संसारमें पुनः आगमन नहीं होता।

अखण्ड ज्ञायकता–शान्ति आदिमें किंचित् बाधा नहीं आती। यह मनुष्यपर्याय प्राप्त करके जिन जीवोंने शुद्ध चैतन्यकी प्राप्तिरूप कार्य किया है वे जीव महान धन्यवाद (प्रशंसा) के पात्र हैं, और उन्होंने अनादिकालसे चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसारके परिभ्रमणका त्याग करके उत्तम सुख—मोक्षसुख प्राप्त किया है। १३।

रत्नत्रयका फल और आत्महितमें प्रवृत्तिका उपदेश

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं,
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-मल हरैं।
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ॥ १४॥

अन्वयार्थः—(बड़भागि) जो महा पुरुषार्थी जीव (यों) इसप्रकार (मुख्योपचार) निश्चय और व्यवहार (दुभेद) ऐसे दो प्रकारके (रत्नत्रय) रत्नत्रयको (धरैं अरु धरेंगे) धारण करते हैं और करेंगे (ते) वे (शिव) मोक्ष (लहैं) प्राप्त करते हैं और (तिन) उन जीवोंका (सुयश-जल) सुकीर्तिरूपी जल (जग-मल) संसाररूपी मैलका (हरैं) नाश करता है।—(इमि) ऐसा (जानि) जानकर (आलस) प्रमाद [स्वरूपमें असावधानी] (हानि) छोड़कर (साहस) पुरुषार्थ (ठानि) करने (यह) यह (सिख) शिक्षा–उपदेश (आदरौ) ग्रहण करो कि (जबलौं) जबतक (रोग जरा) रोग या वृद्धावस्था (न गहै) न आये (तबलौं) तबतक (झटिति) शीघ्र (निज हित) आत्माका हित (करौ) कर लेना चाहिये।

भावार्थः—जो सत्पुरुषार्थी जीव सर्वज्ञ–वीतराग कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रयका स्वरूप जानकर, उपादेय तथा हेय तत्त्वोंका स्वरूप समझकर अपने शुद्ध उपादान-आश्रित निश्चयरत्नत्रयको (–शुद्धात्माश्रित

वीतरागभावस्वरूप मोक्षमार्गको) धारण करते हैं तथा करेंगे वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षमार्गको प्राप्त होते हैं और होंगे। [गुणस्थानके प्रमाणमें शुभराग आता है वह व्यवहार-रत्नत्रयका स्वरूप जानना तथा उसे निश्चयसे उपादेय न मानना उसका नाम व्यवहार-रत्नत्रयका धारण करना है]। जो जीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं और होंगे उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ?—कि जो सिद्ध परमात्माका यथार्थ स्वरूप समझकर स्वोन्मुख होनेवाले भव्य जीव हैं उनके संसार (-मलिनभाव) रूपी मलको हरनेका निमित्त है। ऐसा जानकर प्रमादको छोड़कर, साहस अर्थात् सच्चा पुरुषार्थ करके यह उपदेश अङ्गीकार करो। जबतक रोग या वृद्धावस्थाने शरीरको नहीं घेरा है तबतक शीघ्र (वर्तमानमें ही) आत्माका हित कर लो। १४।

अन्तिम सीख

यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये;
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।
कहा रच्यो पर पदमें, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै;
अब "दौल"! होउ सुखी स्वपद-रचि, दाव मत चूकौ यहै। १५।

अन्वयार्थः—(यह) यह (राग-आग) रागरूपी अग्नि (सदा) अनादिकालसे निरन्तर जीवको (दहै) जला रही है, (तातैं) इसलिये (समामृत) समतारूप अमृतका (सेइये) सेवन करना चाहिये। (विषय-कषाय) विषय कषायका (चिर भजे) अनादि-कालसे सेवन किया है (अब तो) अब तो (त्याग) उसका त्याग करके (निजपद) आत्मस्वरूपको (बेइये) जानना चाहिये—प्राप्त करना चाहिये। (पर पदमें) परपदार्थोंमें—परभावोंमें (कहा) क्यों (रच्यो) आसक्त—सन्तुष्ट हो रहा है? (यहै) यह (पद) पद (तेरो) तेरा (न) नहीं है। तू (दुख) दुःख (क्यों) किसलिये (सहै) सहन करता है? (दौल!) हे दौलतराम! (अब) अब (स्वपद) अपने आत्मपद—सिद्धपदमें (रचि) लगकर (सुखी) सुखी (होउ) होओ! (यह) यह (दाव) अवसर (मत चूको) न गँवाओ!

भावार्थः—यह राग (मोह, अज्ञान) रूपी अग्नि अनादि-कालसे निरन्तर संसारी जीवोंको जला रही है—दुःखी कर रही है, इसलिये जीवोंको निश्चयरत्नत्रयमय समतारूपी अमृतका पान करना चाहिये जिससे राग-द्वेष मोह (अज्ञान)का नाश हो। विषय-कषायोंका सेवन विपरीत पुरुषार्थ द्वारा अनादिकालसे कर रहा है; अब उसका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिये। तू दुःख किसलिये सहन करता है? तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्तवीर्य है, उसमें लीन होना चाहिये। ऐसा करनेसे ही सच्चा-सुख मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिये हे दौलतराम! हे जीव! अब आत्मस्वरूपको प्राप्त कर! आत्मस्वरूपको पहिचान! यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसे न गँवा। सांसारिक मोहका त्याग करके मोक्षप्राप्तिका उपाय कर!

यहाँ विशेष यह समझना कि—जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा राग द्वेषरूप अपने अपराधसे ही दुःखी हो रहा है, इसलिये अपने यथार्थ पुरुषार्थसे ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होनेसे जड़कर्मके उदयसे या किसी परके कारण दुःखी हो रहा है, अथवा परके द्वारा जीवको लाभ–हानि होते हैं ऐसा मानना उचित नहीं है। १५।

ग्रन्थ–रचनाका काल और उसमें आधार

इक नव वसु एक वर्षकी तीज शुक्ल वैशाख;
कर्‌यो तत्त्व-उपदेश यह, लखि बुधजनकी भाख।
लघु-धी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थकी भूल;
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव–कूल ॥ १६ ॥

भावार्थः—पण्डित बुधजनकृत *छहढालाके कथनका आधार लेकर मैंने (दौलतरामने) विक्रम संवत १८९१, वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया)के दिन इस छहढाला ग्रन्थकी रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्दकी या अर्थकी भूल रह गई हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़ें, ताकि जीव संसार समुद्रको पार करनेमें शक्तिमान हो।

छठवीं ढालका सारांश

जिस चारित्रके होनेसे समस्त परपदार्थोंसे वृत्ति हट जाती है,

---

* इस ग्रन्थमें छह प्रकारके छन्द और छह प्रकरण हैं इसलिये तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रोंके प्रहारको रोकनेवाली ढाल होती है, उसी-प्रकार जीवको अहितकारी शत्रु—मिथ्यात्व, रागादि आस्रवोंका तथा अज्ञानांधकारको रोकनेके लिये ढालके समान यह छह प्रकरण हैं; इसलिये इस ग्रन्थका नाम छहढाला रखा गया है।

वर्णादि तथा रागादिसे चैतन्यभावको पृथक् कर लिया जाता है, अपने आत्मामें, आत्माके लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्माका ही अनुभव होने लगता है, वहाँ नय, प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदोंका किंचित् विकल्प नहीं रहता; शुद्ध उपयोगरूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्यका ही अनुभव होने लगता है उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं; वह **स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होकर मुनि-दशामें अधिक उच्च होता है।** तत्पश्चात् शुक्लध्यान द्वारा चार घाति कर्मोंका नाश होनेपर वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करके १८ दोष रहित श्रीअरिहन्तपद प्राप्त करता है; फिर शेष चार अघातिकर्मोंका भी नाश करके क्षणमात्रमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है; उस आत्मामें अनन्तकाल तक अनन्त चतुष्टयका (अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यका) एक-सा अनुभव होता रहता है; फिर उसे पंचपरावर्तनरूप संसारमें नहीं भटकना पड़ता; वह कभी अवतार धारण नहीं करता; सदैव अक्षय अनन्त सुखका अनुभव करता है; अखण्डित ज्ञान-आनन्दरूप अनन्तगुणोंमें निश्चल रहता है; उसे मोक्षस्वरूप कहते हैं।

जो जीव मोक्षकी प्राप्तिके लिये इस रत्नत्रयको धारण करते हैं और करेंगे उन्हें अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होगी। प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व, कषाय और विषयोंका सेवन तो अनादि-कालसे करता आया है किन्तु उससे उसे किंचित् शान्ति प्राप्त नहीं हुई। शान्तिका एकमात्र कारण तो मोक्षमार्ग है; उसमें उस जीवने कभी तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं की; इसलिये अब भी यदि

भ्रान्तिकी (आत्महितकी) इच्छा हो तो आलस्यको छोड़कर, (आत्माका) कर्तव्य समझकर; रोग और वृद्धावस्थादि आनेसे पूर्व ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. क्योंकि यह पुरुष-पर्याय, सत्समागम आदि सुयोग बारम्बार प्राप्त नहीं होते; इसलिये उन्हें व्यर्थ न गँवाकर अवश्य ही आत्महित साध लेना चाहिये।

छठवीं ढालका भेद-संग्रह

अंतरंग तपके नामः—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान।

उपयोगः—शुद्ध उपयोग, शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग—ऐसे तीन उपयोग हैं। यह चारित्रगुणकी अवस्थाएँ हैं। (जानना–देखना वह ज्ञान–दर्शनगुणका उपयोग है–यह बात यहाँ नहीं है।)

छियालीस दोषः—दाताके आश्रित सोलह उद्गम दोष, पात्रके आश्रित सोलह उत्पादन दोष तथा आहार सम्बन्धी दस और भोजन क्रिया सम्बन्धी चार—ऐसे कुछ छियालीस दोष हैं।

तीन रत्नः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

तेरह प्रकारका चारित्रः—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति।

धर्मः—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—ऐसे दस प्रकार हैं। [दसों

धर्मोंको उत्तम संज्ञा है, इसलिये निश्चयसम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागभावनाके ही वे दस प्रकार हैं।]

मुनिकी क्रिया:—(मुनिके गुण):—मूल गुण २८ हैं।

रत्नत्रय:—निश्चय और व्यवहार अथवा मुख्य और उपचार—ऐसे दो प्रकार हैं।

सिद्ध परमात्माके गुण:—सर्व गुणोंमें सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट होने पर सर्व प्रकारसे अशुद्ध पर्यायोंका नाश होनेसे, ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका स्वयं सर्वथा नाश हो जाता है और गुण प्रगट नहीं होते किंतु गुणोंकी निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं; जैसे कि—अनन्तदर्शन-ज्ञान-सम्यक्त्व-सुख, अनन्तवीर्य अटल अवगाहना अमूर्तिक (सूक्ष्मत्व) और अगुरुलघुत्व।—यह आठ मुख्य गुण व्यवहारसे कहे हैं निश्चयसे तो प्रत्येक सिद्धके अनन्त गुण समझना चाहिये।

शील:—अचेतन स्त्री:-तीन [कठोर स्पर्श, कोमल स्पर्श, चित्रपट] प्रकारकी, उसके साथ तीन करण [करना, कराना और अनुमोदन करना] से दो [मन, वचन] योग द्वारा पाँच इन्द्रियाँ [कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श] से चार संज्ञा [आहार, भय, मैथुन, परिग्रह] सहित द्रव्यसे और भावसे सेवन ३ × ३ × २ × ५ × ४ × २ = ७२०। ऐसे भेद हुए।

चेतन स्त्री:—[देवी, मनुष्य, तिर्यंच] तीन प्रकारकी, उनके साथ तीन करण [करना, कराना और अनुमोदन करना] से तीन [मन, वचन, कायारूप] योग द्वारा, पाँच [कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शरूप] इन्द्रियोंसे चार [आहार, भय, मैथुन, परिग्रह]

संज्ञा सहित द्रव्यसे और भावसे, सोलह [अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और संज्वलन—इन चार प्रकारसे क्रोध, मान, माया, लोभ—ऐसे प्रत्येक] प्रकारसे सेवन ३ × ३ × ३ × ५ × ४ × २ × १६ = १७२८० भेद हुए।

प्रथम ७२० और दूसरे १७२८० भेद मिलकर १८००० भेद मैथुन-कर्मके दोषरूप भेद हैं; उनका अभाव सो शील है; उसे निर्मल स्वभाव अथवा शील कहते हैं।

नयः—निश्चय और व्यवहार।

निक्षेपः—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—यह चार हैं।

प्रमाणः—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

छठवीं ढालका लक्षण-संग्रह

अंतरंग तपः—शुभाशुभ इच्छाओंके निरोधपूर्वक आत्मामें निर्मल ज्ञान आनंदके अनुभवसे अखण्डित प्रतापवन्त रहना; निस्तरंग चैतन्यरूपसे शोभित होना।

अनुभवः—स्वोन्मुख हुए ज्ञान और सुखका रसास्वादन।

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावे विश्राम;
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम।

आवश्यकः—मुनियोंको अवश्य करने योग्य स्ववश शुद्ध आचरण।

कायगुप्तिः—कायाकी ओर उपयोग न जाकर आत्मामें ही लीनता।

गुप्तिः—मन, वचन, कायाकी ओर उपयोगकी प्रवृत्तिको भलीभाँति

आत्मभानपूर्वक रोकना अर्थात् आत्मामें ही लीनता होना सो गुप्ति है।

तपः—स्वरूपविश्रान्त, निस्तरंगरूपसे निज शुद्धतामें प्रतापवन्त होना-शोभायमान होना सो तप है। उसमें जितनी शुभाशुभ इच्छाओंका निरोध होकर शुद्धता बढ़ती है वह तप है, अन्य बारह भेद तो व्यवहार (उपचार) तपके हैं।

ध्यानः—सर्व विकल्पोंको छोड़कर अपने ज्ञानको लक्ष्यमें स्थिर करना सो ध्यान है।

नयः—वस्तुके एक अंशको मुख्य करके जाने वह नय है और वह उपयोगात्मक है। सम्यक् श्रुतज्ञानप्रमाणका अंश वह नय है।

निक्षेपः—नयज्ञान द्वारा बाधारहितरूपसे प्रसंगवशात् पदार्थमें नामादिकी स्थापना करना सो निक्षेप है।

परिग्रहः—परवस्तुमें ममताभाव (मोह अथवा ममत्व)।

परिषहजयः—दुःखके कारण (मिलनेसे दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेसे सुखी न हो, किन्तु ज्ञातारूपसे उस ज्ञेयका जाननेवाला ही रहे—वही सच्चा परिषहजय है।

प्रतिक्रमणः—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रको निरवशेषरूपसे छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको (जीव) भाता है, वह (जीव) प्रतिक्रमण है। (नियमसार गाथा-९१)

प्रमाणः—स्व-पर वस्तुका निश्चय करनेवाला सम्यग्ज्ञान।

बहिरंग तपः—दूसरे देख सकें ऐसे पर-पदार्थोंसे सम्बन्धित इच्छानिरोध।

मनोगुप्तिः—मनकी ओर उपयोग न जाकर आत्मामें ही लीनता।

महाव्रतः—निश्चयरत्नत्रयपूर्वक तीनों योग (मन, वचन, काय) तथा करने–कराने–अनुमोदनके भेद सहित हिंसादि पाँच पापोंका सर्वथा त्याग।

जैन साधु (मुनि)को हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह—इन पाँचों पापोंका सर्वथा त्याग होता है।

रत्नत्रयः—निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र।

वचनगुप्तिः—बोलनेकी इच्छाको रोकना अर्थात् आत्मामें लीनता।

शुक्लध्यानः—अत्यन्त निर्मल, वीतरागतापूर्ण ध्यान।

शुद्ध उपयोगः—शुभ–अशुभ राग–द्वेषादिसे रहित आत्माकी चारित्रपरिणति।

समितिः—प्रमादरहित यत्नाचारसहित सम्यक् प्रवृत्ति।

स्वरूपाचरणचारित्रः—आत्मस्वरूपमें एकाग्रतापूर्वक रमणता–लीनता।

अन्तर-प्रदर्शन

(१) "नय" तो ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है और "निक्षेप" ज्ञेय अर्थात् ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य है।

(२) प्रमाण तो वस्तुके सामान्य-विशेष समस्त भागोंको जानता है किन्तु नय वस्तुके एक भागको मुख्य रखकर जानता है।

(३) शुभ उपयोग तो बन्धका अथवा संसारका कारण है, किन्तु शुद्ध उपयोग निर्जरा और मोक्षका कारण है।

प्रश्नावली

१—अंतरंग तप, अनुभव, आवश्यक, गुप्ति, गुप्तियाँ, तप, द्रव्यहिंसा, अहिंसा, ध्यानस्थ मुनि, नय, निश्चय, आत्मचारित्र, परिग्रह, प्रमाण, प्रमाद, प्रतिक्रमण, वहिरंग तप, भावहिंसा, अहिंसा, महाव्रत, पंच महाव्रत, रत्नत्रय, शुद्धात्म अनुभव, शुद्ध उपयोग, शुक्लध्यान, समिति और समितियोंके लक्षण बतलाओ।

२—अघातिया, आवश्यक, उपयोग, कायगुप्ति, छियालीस दोष, तप, धर्म, परिग्रह, प्रमाद, प्रमाण, मुनिक्रिया, महाव्रत, रत्नत्रय, शील, शेष गुण, समिति, साधुगुण और सिद्धगुणके भेद कहो।

३—नय और निक्षेपमें, प्रमाण और नयमें, ज्ञान और आत्मामें, शुभ उपयोग और शुद्ध उपयोगमें अन्तर बतलाओ।

४—आठवीं पृथ्वी, ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थ-छन्द ग्रन्थ-प्रकरण, सर्वोत्तम तप, सर्वोत्तम धर्म, संयमका उपकरण, शुचिका उपकरण और ज्ञानका उपकरण—आदिके नाम बतलाओ।

५—ध्यानस्थ मुनि, सम्यग्ज्ञान और सिद्धका सुख आदिके दृष्टान्त बतलाओ।

६—छह ढालोंके नाम, मुनिने पींछी आदिका अपरिग्रहपना, रत्नत्रयके नाम, श्रावकको नग्नताका अभाव आदिके सिर्फ कारण बतलाओ।

७—अरिहन्त दशाका समय, अन्तिम उपदेश, आत्मस्थिरताके समयका सुख, केशलोंचका समय, कर्मनाशसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका विभाग, ग्रन्थ-रचनाका काल, जीवकी नित्यता तथा अमूर्तिकपना,

परिषह-जयका फल, रागरूपी अग्निकी शान्तिका उपाय, शुद्ध आत्मा, शुद्ध उपयोगका विचार और दशा, सकलचारित्र, सिद्धोंकी आयु निवासस्थान और समय तथा स्वरूपाचरणचारित्रादिका वर्णन करो।

८—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, चार गति, स्वरूपाचरणचारित्र, बारह व्रत, बारह भावना, मिथ्यात्व और मोक्षादि विषयों पर लेख लिखो।

९—दिगम्बर जैन मुनिका भोजन, समता, विहार, नग्नतासे हानि-लाभ; दिगम्बर जैन मुनिको रात्रिगमनका विधि या निषेध, दिगम्बर जैन मुनिको घड़ी चटाई (आसन) या चश्मा आदि रखनेका विधि या निषेध—आदि बातोंका स्पष्टीकरण करो।

१०—अमुक शब्द, चरण और छन्दका अर्थ या भावार्थ कहो। छठवीं ढालका सारांश बतलाओ।

इति कविवर पंडित दौलतराम विरचित छहढालाके
गुजराती-अनुवादका हिन्दी-अनुवाद